प्रथम संस्करण, मई १९५७

मूल्य—तीन रुपया

प्रकाशक
हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

मुद्रक
भार्गव प्रेस
इलाहाबाद

# समर्पण

आदरणीय गुरुवर हजारी प्रसाद जी द्विवेदी को—

# नवेदन

यह पुस्तक एम० ए० की हिन्दी परीक्षा के लिये प्रस्तुत मेरा निबन्ध है, जिसे मैंने आदरणीय गुरुवर हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के निर्देशन में तैयार किया था। सिवाय कुछ शब्दों और वाक्यों को घटा-बढ़ा देने और कुछ उद्धरणों को अनावश्यक समझकर कम कर देने के, मैंने निबन्ध के मूल रूप को ज्यों का त्यों प्रकाशित होने दिया है। आरम्भ में सोचा था कि छपाते समय पूरे निबन्ध को नये सिरे से लिख डालूँगा और उसमें से वे स्थल जो केवल परीक्षा की दृष्टि में रखकर लाये गये हैं, ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल दूँगा। पर कई कारणों से ऐसा न हो सका। मेरा विश्वास है कि विज्ञजन ऐसे स्थलों को मेरे तात्कालिक उद्देश्य की सीमा समझकर ही आगे बढ़ेंगे।

हिन्दी में 'कल्पना' पर सबसे अधिक काम किया है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने। मैंने प्रायः उन्हीं के विचार-सूत्रों को अपनी स्थापनाओं का आधार बनाया है। कल्पना-सम्बन्धी विचारों का इतिहास और उसकी नई से नई व्याख्याओं को जानने के लिये मुझे अनिवार्यतः पाश्चात्य समीक्षकों की शरण लेनी पड़ी है। मैं उन सभी श्रेष्ठ विचारकों के प्रति श्रद्धावनत हूँ, जिनकी स्थापनाओं का इस निबन्ध में उपयोग करने के लिये मैंने अपने को बाध्य पाया है।

विषय को हाथ में लेते समय मेरा मूल उद्देश्य था काव्यगत बिम्बविधान का अध्ययन, जिसका इस निबन्ध में मैं एक खाका भर ही दे पाया हूँ। यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि उस पर मैं अलग से काम कर रहा हूँ और वह समग्ररूप में फिर कभी सामने आयेगा। प्रस्तुत पुस्तक मेरे मूल उद्देश्य की ओर एक हल्का-सा संकेत भी दे दे, तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

वस्तुतः पुस्तक में 'कल्पना' तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की ही चर्चा अधिक है, छायावादी कविताओं का उल्लेख केवलमात्र बात को स्पष्ट करने के लिये उद्धरण के रूप में ही कहीं-कहीं हुआ है। फिर भी पुस्तक के नाम में 'छायावाद' शब्द रखना इस कारण आवश्यक समझा गया कि 'कल्पना' के विभिन्न कार्यों और विशेषकर बिम्बविधान की पद्धतियों को समझने के लिये हमारे निकट जो सबसे सम्पन्न काव्य है वह है छायावाद।

निबन्ध को लिखने में मुझे सबसे बहुमूल्य निर्देश मिले हैं आचार्य गुरुवर हजारी प्रसाद जी द्विवेदी से। विवेच्य वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने में, विचारगत भ्रांतियों के संशोधन में तथा समग्र विषय के प्रति मेरे दृष्टिकोण को स्थिर करने में आचार्य गुरुवर के निर्देशन का अन्यतम योग है।

भाई नामवर सिंह ने विषय के चुनाव से लेकर सामग्री के आकलन और अन्तिम स्थापना तक, बराबर अपने स्पष्ट विचारों और उपयोगी सुझावों से मेरी सहायता की है। मैं धन्यवाद देकर उनके स्नेह का महत्व कम करना नहीं चाहता।

भाई अमृतराय जी का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इतनी ममता के साथ पुस्तक को प्रकाशित कर मुझे भावी कार्यों के लिये प्रेरित और उत्साहित किया।

केदारनाथ सिंह

काशी
अप्रैल १९५७।

# विषय-सूची

# कल्पना
# ग्रौर
# छायावाद

१

# कल्पना का महत्व

भाव के स्तर पर दृष्ट वस्तुओं में अदृष्ट सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालने वाली मानस क्रिया का नाम कल्पना है। मूर्ति-निर्माण, प्रतीकचयन, औपम्य-विधान तथा चमत्कार सृष्टि के अतिरिक्त कल्पना सर्वोत्तम रूप में ऐक्य-विधायिनी होती है। साहित्य में उसके इतने अधिक महत्व का यही कारण है। आधुनिक, विशेषतया रोमान्टिक काव्य में तो उसका स्थान स्रष्टा के समकक्ष ही है, क्योंकि कल्पना के वरदान से प्रेरित होकर कवि जब रचना में प्रवृत्त होता है तो प्रकारान्तर से वह ईश्वर के विराट् निर्माण में ही अपना योग देता है। प्रत्यक्ष सृष्टि में वह अपनी ओर से कुछ जोड़ता है और उसे पहले से अधिक समृद्ध बनाता है। अतः कल्पना यथार्थ का धन है, ऋण नहीं। वस्तुतः इसकी जितनी चर्चा पश्चिम में हुई है उतनी अपने यहाँ नहीं। ऐसा तो नहीं कि कल्पना-शक्ति का परिचय पहले पहल रोमान्टिक कवियों को ही हुआ हो, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कल्पना-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन तथा उसके स्वरूप-निर्धारण का कार्य बहुत कुछ रोमान्टिकों के आगमन के साथ ही सम्पन्न हुआ। अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि रोमान्टिक कविता के साथ कल्पना का बहुत गहरा सम्बन्ध है।

कल्पना क्या है? उसकी मौलिक प्रकृति क्या है? काव्य व्यापार को वह किस प्रकार प्रभावित करती है—आदि प्रश्नों पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ सामान्यतः इतना ही समझ लेना अलम् होगा कि कल्पना वह शक्ति है जो किसी भी साहित्यिक रचना को कोरा इतिहास बनने से बचा लेती है। प्लेटो ने कला को अनुकरण माना था। आगे चलकर अरिस्टोट्ल ने इस मत का परिष्कार किया और रचना के मूल में छिपी हुई उस निर्माण-शक्ति को पहचाना जिसके कारण वह कोरे तथ्य-कथन से 'कुछ अधिक' हो जाती है। यही 'कुछ अधिक' काव्य का सत्य है और हमें प्रभावित करता है। आज के आलोचक इसी 'कुछ अधिक' को कल्पना-शक्ति के नाम से पुकारते हैं।

भारतवर्ष में कल्पना का विचार बहुत बाद में आरम्भ हुआ—प्रायः रवीन्द्र नाथ ठाकुर के आगमन के साथ-साथ। हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा०

नगेन्द्र ने कल्पना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनमें आचार्य शुक्ल का काम सबसे महत्त्वपूर्ण है। पहले-पहल उन्होंने ही पूरे बल के साथ इस मत की स्थापना की कि 'काव्य का सारा रूप-विधान इसी की (कल्पना की) क्रिया से होता है'। उन्होंने रससाधक तत्त्वों में भावपक्ष को तो अनुभूति के भीतर और शेष समस्त विभावन-व्यापार को कल्पना की व्याप्ति के भीतर रक्खा। इस प्रकार हिन्दी में कल्पना-सम्बन्धी विवेचन की नींव आचार्य शुक्ल ने ही दृढ़ की।

आधुनिक कविता के प्रस्फुटन-काल में ही रवीन्द्र नाथ ने कल्पना के महत्त्व की घोषणा इन शब्दों में की थी—'जिस प्रकार भौतिक वातावरण की विसंगतियों का अनुशासन प्रकाश के द्वारा होता है उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक परिवेश के बिखराव का अनुशासन कल्पना के हाथों होता है। कल्पना हमारे भीतर सोये हुए 'समष्टि मानव' को जाग्रत करती है और जीवन के बिखरे तथ्यों को एक दर्शन के सूत्र में पिरोकर संघटित करने में हमारी सहायता करती है।'*

रवीन्द्र नाथ की यह स्थापना कल्पना के उस अतीन्द्रिय रूप का उद्घाटन करती है जो विलियम ब्लेक के अनुसार 'विशुद्ध अन्तर्दृष्टि' से सम्पृक्त है और क्रोचे के अनुसार निरपेक्ष 'प्रातिभज्ञान' से। कल्पना के इसी शुद्ध निरपेक्ष रूप से रहस्यवाद का जन्म होता है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। हिन्दी में रहस्यवाद तथा छायावाद के बीच की सीमा-रेखा को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। पर आज भी वह सूक्ष्म विभाजक रेखा इतनी स्पष्ट नहीं हो पाई है कि पाठक सरलता से दोनों के अन्तर को समझ ले। वस्तुतः यह भेद इतना बारीक है कि दोनों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। योरोप में रहस्यवाद रोमांटिक कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति माना जाता है। पर इसके अतिरिक्त भी कई छोटी-बड़ी प्रवृत्तियाँ इस समूचे काव्य प्रवाह के भीतर मानी जाती हैं जिनकी धाराएं कभी रहस्यवाद का स्पर्श करती हैं और कभी समाजवाद या राष्ट्रीयतावाद का। शेली में ये सभी प्रवृत्तियाँ एक साथ मिल जायेंगी।

वस्तुत छायावाद तथा रहस्यवाद का भेद 'सापेक्ष कल्पना' एवं 'निरपेक्ष-कल्पना' के आधार पर ही किया जा सकता है। कल्पना जहाँ वस्तुजगत का आश्रय लेकर उड़ानें भरती है वहाँ छायावाद और जहाँ 'शुद्ध अन्तर्दृष्टि' के द्वारा निर्मित भावलोक में सचरण करती है वहाँ रहस्यवाद। आचार्य शुक्ल ने

* The Religion of an Artist p 14

इसी 'शुद्ध अन्तर्दृष्टि' के बारे में कहा था कि 'काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से आजकल भावानुभूति तक कल्पित होने लगी है।'[१] पर छायावाद को उन्होंने अधिक सीमित अर्थ में ग्रहण किया है। निश्चय ही वह शैली विशेष या पद्धति-विशेष से अधिक अर्थ रखता है—वह जीवन के प्रति एक विशेष सौन्दर्यमूलक भावात्मक दृष्टिकोण है—पर ऐसे जीवन के प्रति जिसकी कुरूपता और जर्जरता पर यहाँ से वहाँ तक कल्पना का एक पारदर्शी रंगीन आवरण पड़ा हुआ है। इस झीने पर्दे से छनकर पाठक के निकट यथार्थ से पहले यथार्थ की वेदना पहुँच जाती है। यही छाया-वादी कविता की अतिशय कल्पनाशीलता और अस्पष्टता का रहस्य है।

अंगरेजी भाषा का 'इमैजिनेशन' शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। एक तरह से कल्पना का अर्थ ही 'रचना' मान लिया गया है। रचनात्मक साहित्य के लिये प्रायः 'इमैजिनेटिव लिटरेचर' पद का प्रयोग मिलता है। तात्पर्य यह कि आलोचना से इतर जितना भी साहित्य लिखा जाता है वह कल्पनाप्रधान होता है, 'इमैजिनेटिव' होता है। 'इमैजिनेशन' शब्द लैटिन के 'इमेज' शब्द से निष्पन्न है। 'इमेज' का अर्थ है मूर्ति अथवा बिम्ब। अतः 'इमैजिनेशन' का सामान्य अर्थ हुआ वह मानसक्रिया जो मूर्ति-निर्माण करे। अपने मौलिक रूप में 'इमैजिनेशन' शब्द यही अर्थ रखता है। हिन्दी में 'कल्पना' शब्द इसका समानार्थक माना जाता है। वस्तुतः 'इमैजिनेशन' के अर्थ में कल्पना का प्रयोग नया है। हिन्दी में आज 'कल्पना' शब्द जो अर्थ देता है वह उसका परम्पराप्राप्त अर्थ नहीं है उसमें हमने 'इमैजिनेशन' की ध्वनि भी जोड़ ली है। यही नहीं, 'इमैजि-नेशन' के और भी जितने कार्य हैं उन सब का बोध आज हिन्दी में 'कल्पना' के द्वारा ही होता है। परन्तु यह 'कल्पना' शब्द का दुर्भाग्य है कि वह इतने महत्त्वपूर्ण आसन पर पहुँच कर भी 'इमैजिनेशन' का समादर न पा सका। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी के समीक्षकों ने कल्पना पर कम-से-कम विचार किया है। परिणामतः आज हिन्दी का सामान्य पाठक कल्पना को हवाई चीज़ मानता है। पर बात ऐसी नहीं है। गहरे पैठ कर देखें तो कल्पना के बिना रचनात्मक साहित्य का कहीं अस्तित्व ही नहीं है—उससे रहित होकर वह कोरा-कोरा अनुकरण रह जाता है। इसीलिये कल्पना को अनुकरण का विलोम माना जाता है।

पश्चिम में कल्पना-सम्बन्धी विचार की एक लम्बी परम्परा है। प्रायः

---

१– हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ६६८।

प्रत्येक दार्शनिक और आलोचक ने कल्पना सम्बन्धी धारणाओं को स्पष्ट करने में योग दिया है। नीचे हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार कल्पना-सम्बन्धी विचारों का विकास हुआ और आज की समीक्षा में वह कौन-सा रूप ले रहा है।

### कल्पना सम्बन्धी विचारों का इतिहास

कल्पना की समय-समय पर बहुत-सी व्याख्याए और परिभाषाए हुई हैं। कुछ लोगों के अनुसार कल्पना वह मानसिक शक्ति है जो दृश्यचित्रों का सकलन करती है। यह कल्पना सम्बन्धी आरम्भिक धारणा है, क्योंकि कल्पना केवल दृश्य वस्तुओं की ही नहीं होती। कुछ लोगों ने कल्पना को वस्तुजगत के ऊपर कलाकार का मानसिक प्रक्षेपण माना है। कुछ लोगों के अनुसार यह वह शक्ति है जो सूक्ष्म भावों के लिये प्रतीकों की सृष्टि करती है। यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है। क्योंकि कल्पना केवल भाव-सत्ता के लिए ही प्रतीक नहीं लाती—वह प्रायः दृष्ट, स्पृष्ट, श्रुत, घ्रात, अनुभूत—सबके लिये प्रतीकों तथा विम्बों का निर्माण करती है। कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो उसे रहस्यवादी 'प्रातिभज्ञान' का काव्यात्मक रूप मानते हैं, जो ऐन्द्रिय अनुभवों और मानसिक तर्कों से परे होता है। कुछ ने कल्पना को स्वत. सृष्टि माना है—जो निर्माण-शक्ति के रूप में मानवमात्र में स्थित है।

प्लेटो के अनुसार कल्पना का आधार 'असत्य' है। वहाँ कल्पना यथार्थ नहीं यथार्थ का आभास मात्र है। उन्होंने कल्पना के लिये 'फैन्टेसिया' शब्द का प्रयोग किया है। 'रिपब्लिक' में 'मिथ' की व्याख्या के अन्तर्गत एक प्रकार की कल्पना का अस्तित्व स्वीकार किया गया है जो तर्क की पकड़ से परे है। वह रहस्यात्मक अन्तर्दृष्टि से सयुक्त होती है। यहाँ तक कि स्वय ईश्वर भी अपने को कल्पना (फैन्टेसी) के माध्यम से ही प्रेषणीय बनाता है।

अरिस्टोट्ल ने इन विचारों को और आगे बढ़ाया। उन्होंने ऐन्द्रिय अनुभव, बुद्धि, तथा स्मृति के सदर्भ मे कल्पना का विचार किया और सिद्ध किया कि कल्पना वह शक्ति है जो विचारों को एक समजस रूप देती है। अरिस्टोट्ल के अनुसार, बिना कल्पना के कोई धारणा हो ही नहीं सकती।

आगे के विचारकों ने इन्हीं दो मतों के आधार पर कल्पना की नई-नई व्याख्याएं कीं। काफी दिनों कल्पना के लिये प्लेटो का दिया हुआ 'फैन्टेसिया' शब्द ही चलता रहा। उत्तरकालीन लैटिन में पहले-पहल 'इमैजिनेशन'

शब्द का चलन पाया जाता है। पूरे मध्यकाल में ये शब्द समानार्थक माने जाते रहे। अल्बर्ट मैगनस तक आते-आते दोनों शब्दों में स्पष्ट अन्तर हो गया। कोलरिज ने इस अंतर को विस्तार से समझाया है। प्रयोग में—

१—'इमेजिनेशन' (कल्पना) पुनः सृष्टिविधायिनी कल्पना का बोधक बना और—

२—'फैन्टेसी' शब्द संगठनात्मक कल्पना का।

मध्यकालीन अरस्तूवादियों ने मन को तीन भागों में विभाजित किया है—

(क) इसमें कल्पना का स्थान है।

(ख) इसमें तर्क का स्थान है।

(ग) इसमें स्मृति का स्थान है।

इन तीनों को परस्पर सम्बद्ध बताया गया और तर्क द्वारा कल्पना का नियमन होता है—इस बात पर जोर दिया गया। दांते ने 'फैन्टेसिया' को 'अन्तर्दृष्टि' तथा 'अभिव्यक्ति' दोनों का मूल माना था। मध्यकालीन विचारकों ने इसी को रहस्यवादी रूप दे दिया। उनके अनुसार जहाँ 'फैन्टेसी' की समाप्ति होती है वहीं कल्पना भी समाप्त हो जाती है। अठारहवीं शताब्दी तक कल्पना सम्बन्धी धारणाओं में यह स्थापना सबसे महत्त्वपूर्ण रही।

मध्ययुगीन पुनर्जागरण (रिनेसा) के बाद मनोविज्ञान की प्रबलता हुई और कल्पना के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया गया। पेरासेल्सस आदि ने कल्पना को उठाकर इन्द्रजाल के समकक्ष रख दिया और उसमें फलित ज्योतिष तथा अतीन्द्रिय शक्तियों का निवास ढूँढ़ निकाला। उनके अनुसार यह अतीन्द्रिय शक्ति व्यक्ति का नियन्त्रण करती है। प्रेतविज्ञान ने इस नियन्त्रण की व्याख्या की और बताया कि एक व्यक्ति की कल्पना का प्रयोग दूसरे की कल्पना पर भी हो सकता है। मान्टेन तथा शेक्सपीयर ने कल्पना का इस रूप में प्रयोग भी किया है।

परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे कल्पना साहित्य-क्षेत्र से बाहर की वस्तु बनती गई। पूर्वोक्त मध्ययुगीन विचारों से कोई स्वस्थ साहित्यिक स्वरूप सामने नहीं आया। इस काल में 'फैन्टेसी' तथा 'इमेजिनेशन' का अन्तर समझाने में ही सारे विवेचन की इति-श्री हो गई। इस काल के विचारकों के अनुसार 'फैन्टेसी' एक योगात्मक शक्ति है जो वास्तुकलावेत्ताओं गणितज्ञों तथा संगीतज्ञों में होती है, कवि में नहीं। कवि का धर्म 'इमेजिनेशन' है जो सामान्य मनुष्य की पहुँच के परे है।

सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिक रचनात्मक कल्पना के स्वरूप से प्रायः विमुख ही रहे। इस काल में कल्पना की अबौद्धिकता पर प्रायः सभी ने प्रहार

किया। हाब्स ने अपने वस्तुवादी मनोविज्ञान के अन्तर्गत कल्पना की व्याख्या एक ध्वसात्मक शक्ति के रूप में की है, जो सामान्य जीवन में शृंगार के प्रसाधन जुटाने वाली दासी से अधिक महत्व नहीं रखती। हाब्स ने सबसे अधिक जोर विवेक ( जजमेंट ) पर दिया और बताया कि यही वह मौलिक शक्ति है जो काव्य को रूपायित करती है।* इस युग के अधिकाश विद्वानों ने ललित कल्पना ( फैन्सी ) के पर्याय के रूप में वाग्वैदग्ध्य ( विट ) का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि उसका स्थान चमत्कार उत्पन्न करने वाली ऐन्द्रजालिक क्रीड़ा से अधिक नहीं था। कुछ आलोचकों ने अवश्य कल्पना का मूल्याकन नये सिरे से किया और यह स्थापित किया कि कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा साम्य तथा वैषम्य की पहचान होती है। यहाँ भी कल्पना के नाम पर विवेक की प्रधानता ही सिद्ध होती है। इस युग के कल्पना-सबधी विचारों की दुर्बलता यह है कि बुद्धि की प्रधानता तो स्वीकार की गई, पर कल्पना की आत्यन्तिक विशेषता, वासना को विचारकोटि से सर्वथा बाहर ही रक्खा गया।

इन बातों से स्पष्ट है कि कल्पना की दार्शनिक व्याख्या तो बहुत हुई, पर उसके काव्यगत महत्त्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ा। सर्वप्रथम एडिसन ने 'कल्पना का आनन्द' (प्लेजर्स आव इमैजिनेशन) नामक पुस्तक में कल्पना के काव्यगत मूल्य की व्याख्या की। पहले पहल एडिसन ने ही कल्पना का सबध मूर्ति अथवा बिम्ब से जोड़ा और ग्राहक की रसग्राहकता की दृष्टि से कल्पना की प्रक्रिया पर विचार किया। बिम्ब-निर्माण का महत्त्व पहली बार साहित्य में स्थापित हुआ। धीरे-धीरे कल्पना का दार्शनिक रूप ओझल होता गया और आगे आने वाले आलोचकों ने उसके रचनात्मक रूप की चर्चा अधिक की। स्विस सौंदर्य शास्त्री ब्रिटिंगर ने कल्पना तथा रूपक का सम्बन्ध स्थिर किया और अपनी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियों के द्वारा कल्पना के प्रचार में योग दिया। अब यह माना जाने लगा कि कल्पना जितना तर्क का अंग है, उतना ही स्मृति का भी और उतना ही विवेक का भी। चूँकि वह रचनात्मक शक्ति में इन तीनों से बहुत आगे है, अतः वह इन तीनों से भी ऊँची और अधिक उज्ज्वल कोई वस्तु मान ली गई। इस प्रकार काव्य में रस की प्रधानता के साथ-साथ 'रचनात्मक और वासना प्रेरित कल्पना' के सिद्धान्त

---

*—Judgment begets the strength and structure and fancy begets the ornament of a poem.

—Dictionary of world literary terms—Shipley p. 220.

की स्थापना हुई। कल्पना विवेक तथा तर्क से शासित नहीं है, यह सामान्य धारणा हो गई।

कल्पना-सबंधी विचारों में इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के दो संभावित परिणाम देखने में आये—

१—रोमान्टिक कविता का आविर्भाव हुआ। परम्परा मे विद्रोह की भावना जगी, शास्त्रीय अंकुश ढीला पड़ा और व्यक्ति की भावनाओं एव कल्पनाओं की सीमा का विस्तार हुआ।

२—रहस्यवाद का जन्म हुआ। कल्पना को केन्द्रीय सत्ता का स्थान मिला। अन्त मे वह निरपेक्ष सत्ता के रूप मे मान ली गई। काट, हीगेल आदि दार्शनिकों तथा क्रोचे आदि सौंदर्य शास्त्रियों ने अपनी भाववादी स्थापनाओं के द्वारा कल्पना के इस स्वरूप के प्रचार मे पर्याप्त योग दिया।

एक तीसरी बात भी हुई, जो इतनी महत्त्वपूर्ण तो नहीं है, पर आगे चलकर इसकी महत्ता सबने स्वीकार की—वह है आलोचक के भीतर कल्पना तत्त्व का अवस्थान। एडिसन आदि ने ग्राहक के भीतर तो कल्पना की स्थिति मान ली थी, कृतिकार के भीतर वह स्वतः सिद्ध है। पर आलोचक अब तक इस दैवी वरदान से वंचित था। ह्यूर्ड ने पहली बार आलोचक के लिये भी कल्पना-शक्ति की आवश्यकता पर बल दिया और बताया कि कल्पना-शक्ति के सहारे ही आलोचक किसी रचना के सम्पूर्ण अन्तर्निहित सौन्दर्य को परख पाता है और निर्माता की अनुभूतियों का भोक्ता बनने में समर्थ होता है।

यहीं से कल्पना का वास्तविक स्वरूप सामने आया। कांट ने माना कि मन एक सक्रिय सत्ता है, बाहरी प्रभावों को निष्क्रिय रूप मे ग्रहण करने वाला पदार्थ नहीं। वह बाह्य प्रकृति पर अपनी अर्थवत्ता (सिग्नीफिकेंस) का आरोप करता है। कोलरिज ने इस विचार को आगे बढ़ाया और सिद्ध किया कि कल्पना प्रकृति के ऊपर मानसिक जगत के प्रक्षेपण का दूसरा नाम है। फिर यह प्रकृति क्या है? कोलरिज का कहना है कि वह हमारी इन्द्रियों का प्रक्षेपण है। अर्थात् मन तथा इन्द्रिय से अलग किसी तीसरी वस्तु की सत्ता नहीं है। जितना कुछ हम बाहर देखते हैं, मूलतः वह हमारे भीतर है, बाहर तो उसका प्रक्षेपमात्र दीखता है। कल्पना इसी बाह्य प्रक्षेपण के सहारे विकसित होती है अर्थात् वह सूक्ष्म रूप मे तो भीतर है, पर मूर्त रूप ग्रहण करने के लिये उसे बाहर आना पड़ता है। रोमांटिक कविता मे इस सिद्धान्त को बड़ा महत्त्व दिया गया और इसने उस काव्यधारा की दो मुख्य प्रवृत्तियां पोषित हुई—

१—व्यक्ति के भीतर आत्म प्रसार की भावना।

२—मानवीकरण की व्यापकता।

दूसरी ओर इस प्रभाववादी दर्शन ने दूसरा रूप लिया। ब्लेक ने कल्पना को प्रातिभज्ञान के समकक्ष माना और सिद्ध किया कि मनुष्य बिना तर्क तथा ऐन्द्रियज्ञान के भी प्रातिभज्ञान के द्वारा अनन्त सत्य को प्राप्त कर सकता है। कल्पना की अद्वितीयता सिद्ध करने के लिए उसे तरह तरह के विशेषण दिये गये—

१—वह आध्यात्मिक ऐन्द्रिय बोध है।

२—वह मानव की 'अनन्त काया' है।

३—कल्पना वह अनन्त सत्यलोक है जिसकी एक धुँधली-सी छायामात्र यह ससार है।

कोलरिज रहस्यवादी दर्शन से प्रभावित थे। सर्व प्रथम उन्होंने ही 'प्राथमिक कल्पना' का नाम लिया और बताया कि इसके द्वारा 'व्यक्ति अपने सीमित मन में असीम अहम् के अनन्त सृष्टि-क्रम की आवृत्ति करता है।' यह अनन्त अहम् क्या वस्तु है? रवीन्द्रनाथ ने जिसको 'समष्टि मानव' के नाम से अभिहित किया है, कोलरिज के निकट वही 'अनन्त अहम्' था।' व्यक्ति 'सान्त मानव है', और उससे परे जो एक उच्चतर 'ब्रह्माण्ड मानव' है वही 'अनन्त अहम्' है। अब रह गया 'अनन्त सृष्टिक्रम'। कोलरिज ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि 'वह परोक्ष जीवन की महत् स्वीकृति है, जिसमें भाव तथा वस्तु एक हैं, आत्म तथा अनात्म सम हैं'। कल्पना ही मनुष्य को वह शक्ति देती है जिसके द्वारा वह अपनी सीमा में उस 'अनन्त सृष्टि-क्रम' की आवृत्ति कर सकने में समर्थ होता है। काट से गृहीत तत्त्व-दर्शन की पदावली में कहा जाय तो यों कहा जा सकता है कि कल्पना वह ऐक्यविधायिनी प्रक्रिया है जिसके द्वारा विषय तथा विषयि समरस हो जाते हैं। इस दृष्टि से प्रसाद जी के इस प्रसिद्ध छन्द में जिस समरसता का निर्देश किया गया है वह भी प्राथमिक कल्पना का ही उज्ज्वल वरदान माना जायेगा—

समरस थे जड़ औ' चेतन<br>
सुन्दर साकार बना था,<br>
चेतनता एक विलसती,<br>
आनन्द अखण्ड घना था।

वर्ड्सवर्थ ने प्राथमिक कल्पना पर विचार करते हुए उसकी दो प्रकार की स्थितियाँ स्वीकार की हैं—

१—परमशक्ति, स्वच्छन्द अन्तर्दृष्टि तथा मन के विराट् विस्तार के रूप में, तथा

२—अपनी अत्यन्त तीव्रता के क्षणों में तर्क के रूप में।

वासना के साथ कल्पना का सम्बन्ध पहले पहल वर्ड्सवर्थ ने ही जोड़ा और बौद्धिक प्रेम के साथ उसको एकाकार किया। ब्लेक आदि से वर्ड्सवर्थ की यदि कोई भिन्नता थी तो यही कि उन्होंने प्रकृति के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण को नहीं स्वीकार किया। उनके निकट प्रकृति जीवित सत्ता के रूप में थी और मनुष्य के साथ सदा भावविनिमय के लिये प्रस्तुत रहती थी। वर्ड्सवर्थ ने एक प्रकार के सर्वात्मवाद को स्वीकार किया था, जिसके अनुसार मनुष्य अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा प्रकृति को अपने ही मूल का समानान्तर विकास या प्रकाशन समझता है।

ब्लेक, कोलरिज, वर्ड्सवर्थ तथा शिलर—सभी ने कल्पना के अतीन्द्रिय रूप की व्याख्या की। शेली ने इन सबसे अलग कल्पना को एक विराट् नैतिक शक्ति के रूप में देखा और स्थापित किया कि 'कल्पना—नैतिक कल्याण की सर्वोत्तम साधन है।' शेली की 'नैतिक कल्याण' की व्याख्या भी बहुत कुछ आध्यात्मिक रंग में ही रंगी हुई थी। अतः कुल मिलाकर इस काल के विचारकों में कोलरिज की 'पुनः सृष्टि विधायिनी कल्पना' का सिद्धान्त ही सबसे अधिक विचारणीय जान पड़ता है क्योंकि इस सिद्धान्त के द्वारा कल्पना के आभ्यन्तर स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है पहले जिसका उल्लेख 'प्राथमिक कल्पना' के रूप में किया गया था वह तो शुद्ध मानसिक क्रिया है और उसका सम्बन्ध अनन्त सत्य से है, दृश्य जगत से नहीं। पर पुनः सृष्टि-विधायिनी कल्पना का सम्बन्ध ऐन्द्रिय जगत से भी है। कोलरिज के अनुसार यह उसी 'प्राथमिक कल्पना' की प्रतिध्वनि है जो मन के गहरे स्तरों से निकल कर पेड़ों, पौधों, नदियों, पहाड़ों और समूचे जीवन के विस्तार में गूँजती है। कोलरिज के इस सिद्धान्त को लेकर बड़ा विवाद हुआ और इसकी तरह-तरह से व्याख्याएं की गई। सीधी सी बात इतनी ही समझ में आती है कि कालरिज किसी रहस्य सत्ता में घनिष्ठ रूप से विश्वास रखता था और मानता था कि कल्पना का पहला स्तर उसी के ज्ञान से खुलता है, जो प्राथमिक कल्पना है। दूसरा स्तर वह है जब वह आन्तरिक अनुभूति अपना वाह्य-प्रकाश करने के लिये बिम्ब अथवा मूर्त्ति का निर्माण करती है। इसी दूसरे स्तर का नाम 'पुनः सृष्टिविधायिनी कल्पना' है।

इसके बाद की पीढ़ी में हंट, हैजलिट और रस्किन प्रमुख हैं। इन्होंने कल्पना के व्यावहारिक पक्ष का ही अधिक विचार किया है। इस काल की मुख्य स्थापना अप्रस्तुतविधान के सम्बन्ध में है। माना गया कि अलंकार विचारों तथा भावों के आकस्मिक आभरण नहीं हैं. उनके पीछे कार्य-कारण की एक लम्बी शृङ्खला होती है, जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-चेतना काम करती है। इस प्रकार

कविता अपने समस्त अलकरण के साथ जटिल मनोविज्ञान की उपज है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में 'कल्पना' कहते हैं।

विक्टोरियन विचारकों ने अपनी आलोचना में सामाजिक एव नैतिक मूल्यों को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण कल्पना जैसे विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया।

आधुनिक विचारकों ने रोमाटिक कवियों पर विचार करते हुए कल्पना पर नये सिरे से प्रकाश डाला। इन विचारकों के निकट फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त हैं। अत. इन्हें विचार करने के लिये एक बनी-बनाई पृष्ठभूमि मिल गई। कई विद्वानों ने कल्पना का विचार व्यक्ति मन की विसगतियों तथा उलझनों के सदर्भ में किया है। इस काल के प्रमुख विचारकों ने कल्पना को अधिक ठोस रूप देने के लिये अनुभूति का आधार आवश्यक माना। इस प्रयत्न में पश्चिम के एएडर्सन तथा आई० ए० रिचर्ड्स से लेकर अपने यहाँ के आचार्य शुक्ल तक ने पर्याप्त योग दिया है, और सबने अपने-अपने ढग से परिवेश तथा अनुभूति की व्याख्या की। बिना अनुभूति के कल्पना नितान्त पंगु और निष्प्राण रह जाती है—यह आज का स्थिर सिद्धान्त है। इस युग की तीन प्रमुख स्थापनायें मानी जा सकती हैं—

१—रिचर्ड्स आदि की स्थापना कि बिना अनुभूति के कल्पना का अस्तित्व ही नहीं है।

२—क्रोचे का सिद्धान्त कि कल्पना मूलतः प्रातिभज्ञान ( इन्ट्यूशन ) ही है। उसका सासारिक अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं। इसके समर्थन में इग्लैंड के ब्रेडले आदि रहे हैं।

३—ई० डी० फासेट का सिद्धान्त कि 'ससार स्वय ही कल्पना है।' वस्तुत' यह सिद्धान्त पुराने जर्मन दार्शनिकों का ही नवीन पल्लवित रूप है।

सक्षेप में कल्पना-सम्बन्धी विचारों का यही इतिहास है। हमने देखा कि कैस प्रकार कल्पना का विचार असत्य या भ्रम से आरम्भ हुआ और विवेक, तर्क, अन्तर्दृष्टि, नैतिक कल्याण के मार्ग से होता हुआ अनुभूति की यथार्थ भूमि पर आकर ठहर गया है। इनमें से प्रत्येक शब्द एक-एक युग का सूचक है। हम जिस युग में सास ले रहे हैं वह विज्ञान से अनुशासित है। इसलिये आज कल्पना के दायित्व बढ़ गए हैं। सस्कृति की इस दौड़ में दुर्बल मानव-कल्पना को विज्ञान जैसे प्रतिद्वन्द्वी से होड़ लेनी पड़ रही है। कदाचित् इसीलिये आज हम अनुभूति पर इतना अधिक बल दे रहे हैं कि कहीं कल्पना निराधार होकर अपने उस लौह प्रतिद्वन्द्वी से पिछड़ न जाय।

कल्पना एक ऐसी रचनात्मक शक्ति है जो प्रत्येक मनुष्य के भीतर होती है। एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की कल्पना में आनुपातिक भेद हो सकता है। इसके बिना न तो मनुष्य कला का निर्माण ही कर सकता है, न उसका रसास्वादन ही। न वह भूत की भावना कर सकता है, न भविष्य का अनुमान। न वह अज्ञात की जिज्ञासा कर सकता है न महत्वाकांक्षा या दिवास्वप्न का आनन्द ही ले सकता है। कल्पना की महत्तर सृष्टि एक दिन में नहीं होती। उसके लिये वर्षों की अनवरत अनुभूति-साधना आवश्यक है। रचनाकार की मनःस्थिति उस भीतर-भीतर जलने वाली आग की तरह होती है जो बाहर से दीख नहीं पड़ती और सहसा तरल लपटों का रूप ले लेने पर बरबस ही हमारी 'ऐन्द्रियचेतना' को स्पर्श का आमन्त्रण देती है। साहित्य में इसी 'शीतल ज्वाला' को रूप देने का काम कल्पना करती है। बिम्ब-निर्माण के द्वारा वह इस 'ज्वाला' को दृश्य बनाकर हमारे सामने उपस्थित करती है और हमारे ऐन्द्रिय बोध को तृप्त करती है। महत्तर कल्पनात्मक कृतियों में उसके विकास के तीन परस्पर-सम्बद्ध स्तर होते हैं—

१—यथार्थ के किसी नये आयाम का उद्घाटन।

२—विभिन्न स्थितियों तथा पात्रों का निर्माण।

३—बिम्ब निर्माण अथवा मूर्त्तिविधान।

गीतों अथवा इस प्रकार की अन्य छोटी रचनाओं में विकास का दूसरा स्तर नहीं होता। वहाँ केवल पहले और तीसरे के योग से ही रचना की पूर्णता हो जाती है। तात्पर्य यह है कि 'कल्पना' रचनात्मक शक्ति का ही दूसरा नाम है। कल्पना का सर्वोत्तम आनन्द आत्म-आविष्कार की भावना में होता है, जो हमें किसी अन्य दार्शनिक अथवा रासायनिक प्रक्रिया से नहीं प्राप्त हो सकता। संक्षेप में कल्पना आत्मज्ञान के साथ-साथ वस्तुज्ञान भी कराती है और अनुभूति के सूत्र से 'आत्म' तथा 'पर' को जोड़ती है।



२

# कल्पना का स्वरूप

कल्पना का सबसे अधिक सम्बन्ध मन से है। मन की क्रियाओं का कोई अन्त नहीं। अतः कल्पना की भी सीमा निश्चित करना सरल नहीं है। साधारणतः मन के जितने विषय हो सकते हैं उन्हीं के आधार पर कल्पना का स्वरूप निर्धारण हो सकता है। वस्तु-जगत का जितना कुछ हमारे सम्पर्क में आता है वह सब का सब कहीं-न-कहीं हमारे मन से भी सम्पृक्त होता है। कल्पना उन सब का स्पर्श करती है और उन सबसे रग-रूप ग्रहण करती है। इसलिये वस्तुओं के आधार पर कल्पना का वर्गीकरण असभव है, क्योंकि जितनी वस्तुए होंगी उतने प्रकार की कल्पना होगी। अब दो ही आधार रह जाते हैं—मन तथा वस्तुओं के गुण-धर्म। नीचे इन्हीं दोनों आधारों पर कल्पना के विभिन्न रूपों को समझने का प्रयत्न किया जायेगा।

भारतीय तत्वदर्शन के अनुसार अतःकरण के चार अंग माने गये हैं—मन, बुद्धि, चित, अहकार। मन का धर्म है सकल्प-विकल्प। वस्तु के सम्बन्ध में हमारी धारणा इन्हीं दो कोटियों में विभक्त हो सकती है। सकल्प स्वीकृति सूचक होता है, विकल्प सदेहात्मक। कल्पना का निर्माण इन दोनों के योग से होता है। विकल्प उसे विस्तार देता है, सकल्प उसे घनीभूत करता है। पर किसी भी कृति को अन्तिम स्वीकृति सकल्प ही देता है।

भाषा के व्यापक प्रयोगों में कल्पना के दो अर्थ होते हैं—१) कलात्मक और २) व्यावहारिक। कलात्मक अर्थ के अनुसार कल्पना साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला आदि के निर्माण में योग देती है और व्यावहारिक अर्थ के अनुसार वह हमारे सम्पूर्ण जीवन प्रवाह को प्रतिक्षण प्रभावित करती रहती है। हमारे सोचने में, चलने में, पढ़ने में, लिखने में—सर्वत्र कल्पना का सूक्ष्म क्रियाव्यापार व्याप्त है। साधारणत. माना जाता है कि जिस ज्ञान का आधार सवेदना न हो, वह कल्पना है अथवा किसी पदार्थ की अनुपस्थिति में जो विचार उसके सम्बन्ध में आते हैं वह कल्पना है। इस प्रकार कल्पना के अन्तर्गत स्मृति का भी समावेश हो जाता है। हमारे जीवन के विशाल अनुभव में जो कुछ भी पुराना है वह कल्पना के द्वारा ही हमें प्राप्त होता है।

यहाँ हम कल्पना के जिस पक्ष की चर्चा करने जा रहे हैं वह कलात्मक

नहीं, व्यावहारिक है। उसके कलात्मक रूप की चर्चा की जा चुकी है। व्यावहारिक दृष्टि में कल्पना मन की एक रचनात्मक क्रिया है। यह क्रिया प्रत्यक्ष ज्ञान या स्मृति की तरह बाह्य पदार्थ के अनुभव से बंधी नहीं रहती। डा० श्यामसुन्दर दास ने व्यावहारिक भूमिका पर रखकर कल्पना की व्याख्या इस प्रकार की है—

'दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पांच अवस्थाएं मानी हैं :

१—परिज्ञान २—स्मरण ३—कल्पना ४—विचार ५—सहजज्ञान। बाह्य का इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान-परिज्ञान है। यदि हमने उस वस्तु को ध्यान से देखा है तो आवश्यकता पड़ने पर स्मरणशक्ति की सहायता से उसके रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं। मान लिया कि मनुष्य एक अंगरेज है। हमने संन्यासी को भी देखा है और हमें संन्यासी के रूप, आकार, तथा उसके वस्त्रों के रंगों का भी स्मरण है। अब हम चाहें तो अंगरेज का सूट-बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र भी पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के आगे एक अंगरेज सन्यासी का चित्र उपस्थित हो जायगा। मन की एक विशेष क्रिया से स्मरणशक्ति के द्वारा सचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उसके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली—जिसका अस्तित्व बाह्य जगत में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।'

बाबू साहब की यह परिभाषा स्मृति पर आधारित है। स्मृति से कल्पना का केवल एक पक्ष उद्घाटित होता है—विचित्र रूपविधान। पर इसके अतिरिक्त कल्पना और भी बहुत से कार्य करती है, जैसे प्रतीक-चयन, औपम्य-विधान और ऐक्यविधान आदि। इनकी व्यंजना इस परिभाषा से नहीं होती। कुल मिलाकर बाबू साहब की परिभाषा व्यावहारिक कल्पना का ही परिचय देती है। यहाँ हम थोड़ा रुककर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना के इस रूप का विचार कर लें।

कल्पना और स्मृति

दोनों का सम्बन्ध असंदिग्ध है। दोनों का आधार प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभव को ज्यों का त्यों चेतना के आगे उपस्थित करती है। वह वस्तुओं की व्यवस्था में कोई हेर-फेर नहीं करती। कल्पना भी अनुभूत विषयों का ही पुनर्निर्माण करती है; पर वह उनकी व्यवस्था को मनमाना रूप देती है, नयी लय (रिद्म) देती है। स्पष्ट है कि स्मृति मात्र अनुकरण है और कल्पना संभावना या परिष्कार। स्मृति का प्रवाह अतीत की ओर होता है कल्पना का भविष्य की ओर। हम अतीत की वस्तुओं की कल्पना इसलिये नहीं करते कि उसे फिर अतीत को लौटा दें। हम कल्पना

अपने लिये करते हैं, अपने भविष्य के लिये करते हैं। कल्पना में सदैव इच्छा का योग होता है। जब हम कोई कल्पना करते हैं—अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं। बच्चे घिसटते हुए काठ के डण्डे को घोड़ा मान लेते हैं। पौराणिक मनुष्य प्रत्येक विचित्र डैनों वाले पक्षी को देवदूत समझता था। हम रास्ते के दूसरे छोर से आते हुए व्यक्ति का देखकर कल्पना करते हैं कि कदाचित् वह इधर ही आ रहा हो। सभी प्रकार की कल्पनाओं में वासना बद्धमूल होती है। वस्तुत. कल्पना अप्राप्य वस्तुओं की प्राप्ति का एक निराला ढग है।*

कल्पना और स्मृति का सम्बन्ध, इन विभिन्नताओं के बावजूद भी, बहुत गहरा है। कल्पना सदैव स्मृति के बल पर ही उड़ानें भरती है। वैदिक ऋषि ने प्रत्यक्ष अनुभूत प्रकृति के रूपों में ब्रह्म की कल्पना की थी। पौराणिक मनुष्य ने ईश्वर के अवतारों की कल्पना की तो प्रकृत मानव अथवा जीव-जन्तुओं के रूप में ही। अत. यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्मृति कल्पना की सीमा नहीं है, पर आधारभूमि अवश्य है।

**कल्पना और प्रत्यक्ष पदार्थ**

सामान्य मनुष्य के निकट तो कोई बाधा नहीं है, पर दार्शनिकों के सामने हमेशा यह बहुत बड़ा प्रश्न रहा है कि काल्पनिक पदार्थ से प्रत्यक्ष पदार्थ को किस प्रकार भिन्न समझा जाय ? कल्पना और पदार्थ के इस सम्बन्ध को लेकर दशन के क्षेत्र में कई अलग-अगल मत और वाद ही उठ खड़े हुए हैं। कुछ लोगों ने कल्पना को ही सत्य माना है क्योंकि मानसिक धारणा के अतिरिक्त कहीं वस्तु की सत्ता ही नहीं है। ऐसे दार्शनिकों में हीगेल सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। विचारकों का एक दूसरा दल भी है जो प्रत्यक्ष अथवा अनुभूत पदार्थ को ही सब कुछ मानता है, कल्पना को नहीं। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक

---

*—We imagine in order to satisfy needs. Imagination is a mode of adaptation arising from tension or want and undergoing the same process of trial and error activity Imagination is a device for attaining unattainable goals

—Murphy · A Brief General Psychology, p 346.

दृष्टि से कल्पना तथा प्रत्यक्ष पदार्थ के अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है—

१—प्रत्यक्ष अनुभव अधिक सजीव (लिविंग) होता है। यदि हम किसी कल्पित फूल की तुलना वास्तविक फूल से करें तो यह अंतर स्पष्ट हो जायेगा। कल्पित फूल चाहे अधिक सुन्दर हो, यथार्थ फूल की मासलता और स्पंदन उसमें न होगा।

२—कल्पना-प्रदत्त ज्ञान अधूरा होता है। वह दृश्य पदार्थ के उसी पक्ष पर आधारित होते हैं जिसकी प्रतिकृति हमारे मन में बनी रह जाती है। अतः कल्पना-जन्य ज्ञान खण्डांश का ज्ञान होता है। हम प्रत्यक्ष वस्तु के सम्बन्ध में जितनी बातें जान सकते हैं, उतनी कल्पित वस्तु के सम्बन्ध में नहीं।

३—प्रत्यक्ष पदार्थ में एक प्रकार की निश्चितता होती है। काल्पनिक पदार्थ का कोई एक रूप नहीं होता। वह जल में पड़ी हुई परछाईं की भाँति कापता रहता है।

४—प्रत्यक्ष वस्तु हमारी शारीरिक क्रियाओं से स्वतंत्र नहीं रहती। हम पढ़ने की मेज़ के सामने बैठे-बैठे भी सुदूर विलायत के बारे में तरह-तरह की कल्पनायें कर सकते हैं। पर हम आँख मूँद कर बगल से जाते हुए राही को न देख सकते हैं, न पहचान सकते हैं।

५—प्रत्यक्ष पदार्थ देश और काल की भावना से सीमित होता है। कल्पना के निकट देश और काल की कोई सीमा नहीं है। हमने यदि महात्मा गाधी को देखा है तो बड़ी सरलता से आज भी प्रार्थनासभा के मञ्च से बोलते हुए उनके रूप की कल्पना कर सकते हैं। परन्तु वस्तु-सत्य यह है कि आज इस पृथ्वी पर महात्मा गाधी के भौतिक रूप को चलते-फिरते देखना असम्भव है, एकदम असम्भव।

इन थोड़े-से उदाहरणों के द्वारा कल्पना तथा प्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का कुछ बोध हो जायेगा। यों तो यह विवाद इतना पुराना और उलझा हुआ है कि सरलता से कोई समाधान पा लेना अत्यन्त कठिन है। फिर भी, मनोवैज्ञानिक भूमिका पर रखकर देखने से उसकी पारस्परिक विभिन्नता के सम्बन्ध में इतनी बातें स्पष्ट ज्ञात होती हैं।

### कल्पना और स्वप्न

स्वप्न में व्यक्ति पूर्णतया उपचेतन के अधीन होता है। फलतः वह किसी भी असम्भव, अज्ञात, अननुभूत वस्तु की कल्पना कर सकता है। इस अवस्था में तर्क, विवेक तथा संकल्प शक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। अतः स्वप्नस्थ मनुष्य की कल्पना पर कोई नियंत्रण नहीं होता। वह समुद्र में तैर सकता है,

आकाश में उड़ सकता है, परी लोक की सैर कर सकता है, उसके लिये कोई स्थान निषिद्ध नहीं, कोई वस्तु वर्ज्य नहीं। इसमें संदेह नहीं कि स्वप्न का आधार भी स्मरण ही है। पर स्वप्न मे आया हुआ स्मरण हू-ब-हू अनुकरण नहीं होता। वह व्यक्ति के अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित नाना भावों और रूपों से मिलकर एक विचित्र रूप ग्रहण कर लेता है और कभी कभी तो इतना बदल जाता है कि उसमें प्रत्यभिज्ञान का अंश भी लुप्त हो जाता है। पर कल्पना के क्षेत्र में यह परिवर्तन उतना अस्पष्ट नहीं होता। कल्पना-निर्मित मूर्तियों और स्वप्न-निर्मित मूर्तियों में एक बहुत बड़ा अंतर यह होता है कि व्यक्ति स्वप्न में देखी हुई मूर्तियों का प्रत्यक्षीकरण अत्यन्त शीघ्र और निर्बाध रूप से कर लेता है। मनोवैज्ञानिकों ने इसका कारण यह बताया है कि स्वप्नस्थ मनुष्य के सामने 'संवेदना के प्रत्यक्षकरण' की समस्या नहीं रहती। क्योंकि उस समय उसके मस्तिष्क की समस्त चेतना-शिरायें उन मूर्तियों से गाढ़ भाव से सम्पृक्त होती हैं और जाग्रतावस्था की भाँति उन्हें प्रतिरोधी मूर्तियों का सामना नहीं करना पड़ता। फलतः जिस प्रकार सूर्यास्त के बाद तारों का प्रत्यक्षीकरण निर्बाध रूप से हो जाता है उसी प्रकार स्वप्न की दशा में चलती फिरती छायामूर्तियों का प्रत्यक्षीकरण भी बड़ी सरलता से हो जाता है। कल्पना द्वारा प्रस्तुत मूर्तियों के ग्रहण में सचेष्ट एकाग्रता की अपेक्षा होती है।

इसी प्रकार दिवास्वप्न की भी व्याख्या की जा सकती है। वह भी एक प्रकार का काल्पनिक व्यापार ही है। परन्तु कल्पना से उसका अन्तर यह है कि कल्पना स्वस्थ मन की उपज है और दिवास्वप्न अस्वस्थ अथवा असफल मन की। दिवास्वप्न मे कभी-कभी महत्त्वाकांक्षा का भी योग होता है। अतः उसमें विचरण करने वाले व्यक्ति की मानसिक वृत्ति दो प्रकार की हो सकती है—पराजित तथा विजयी। यह सब कुछ एक वायवीय भावना का व्यापार होता है। स्थूल जगत में उसे ढूँढना व्यर्थ है। कल्पना और दिवास्वप्न मे इतनी समानता अवश्य है कि दोनों ही हमारी किसी-न-किसी प्रकार की आन्तरिक बुभुक्षा को तृप्त करते हैं।

छायावादी कविता में स्वप्न तथा दिवास्वप्न के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल जायेंगे। परिस्थिति के अनुकूल वहाँ कल्पना का स्वरूप अतिरंजित अथवा विशृङ्खल भी मिल सकता है।

मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तिभेद से कल्पना के भी कई भेद किये हैं। साहित्य के अध्ययन में इनमे से प्रायः प्रत्येक भेद किसी-न-किसी रूप मे आ जाता है। अतः क्रमशः उनका उल्लेख कर दिया जाता है—

१—दृष्टिकल्पना—स्मृति का सबसे अधिक सम्बन्ध इसी से है। जो दृष्टि-कल्पना का धनी होता है उसकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र होती है। उसके भीतर प्रत्यभिज्ञान की अद्भुत क्षमता होती है। काव्य में वर्ण तथा रूप की योजना इसी कल्पना के द्वारा होती है। पंत में रंगों की अत्यन्त सूक्ष्म परख पाई जाती है। निराला के वर्णन में एक प्रकार की मांसलता और मूर्तिमत्ता बराबर मिलती है। मानना होगा कि ये कवि अपनी दृष्टि-कल्पना को जाग्रत रख सकने में समर्थ सिद्ध हुए हैं।

२—ध्वनि-कल्पना—कान से सुने हुए शब्द अथवा स्वर-लहरी को अनु-भव के द्वारा जब दुहराने की चेष्टा करते हैं तो हम ध्वनि-कल्पना से काम लेते है। संगीतज्ञों में यह कल्पना अत्यन्त जाग्रत होती है। किसी वक्ता के भाषण को अथवा किसी प्रियजन की बातचीत को जब हम उसकी अनुपस्थिति में याद करना चाहते हैं तो हम जाने-अनजाने अपनी इन्द्रियों के द्वारा उस वाणी को ही पकड़ना चाहते हैं जिसे हमने एक क्षण के लिए सुना था। ध्वनि-कल्पना की सहायता से ही हम एक व्यक्ति के उच्चारण से दूसरे व्यक्ति के उच्चारण को अलगाने में समर्थ होते हे।

वस्तुतः हमारे अनुभव-भाण्डार को बढ़ाने में इन्हीं दोनों प्रकार की कल्पनाओं का सबसे अधिक योग है। काव्य का सौंदर्य, मूर्तिमत्ता और संगीता-त्मकता का ही सौंदर्य है। इनके अतिरिक्त चार प्रकार की अन्य कल्पनायें भी मानी गई हैं जो इस प्रकार हैं—

३—स्पर्श कल्पना—जो व्यक्ति इस कल्पना का धनी होता है वह बड़ी सरलता से किसी वस्तु को छूकर पहचान सकता है। कपड़े के व्यापारियों में इसकी अत्यन्त सूक्ष्म चेतना होती है।

४—क्रिया-कल्पना—किसी काम को करते समय हमें जितने प्रकार के अनुभव होते हैं वे धीरे-धीरे हमारी वासना में घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। फिर जब हम उस काम को याद करते हैं तो हमें उसका गुण बाद में याद आता है और वह प्रक्रिया पहले याद आती है जिसके द्वारा वह किया गया था। एक शिशु जब किसी कठिन शब्द का हिज्जे याद करता है तो वह आँख या कान से उतना काम नहीं लेता, जितना उस हाथ से लेता है जिसके द्वारा शब्द लिखा गया था।

५—घ्राण-कल्पना—इसका सम्बन्ध हमारी सौंदर्य-चेतना से है। सूँघी हुई वस्तुओं को अनुभव के सहारे याद करना घ्राण-कल्पना है। हम अनेक वस्तुओं को उनकी गंध भर से पहचान लेते हैं। संस्कृत के प्राचीन कवियों में घ्राण-कल्पना अपने अत्यन्त तीव्र रूप में पाई जाती है।

**६—रस-कल्पना**—इसका सम्बन्ध रसेन्द्रिय से है। इस कल्पना के सहारे हमें विभिन्न वस्तुओं के स्वाद की पहचान होती है। आम मीठा होता है, नीबू खट्टा—इस तथ्य का ज्ञान हमें रसकल्पना के द्वारा ही होता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं में व्यक्तिगत भेद होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की कल्पना में समर्थ नहीं होता। सामान्यतः यह भेद हमारे सस्कारों और रुचियों का भेद होता है। पर प्रयत्न के द्वारा इनमें से किसी भी कल्पना की शक्ति अपने भीतर जगाई जा सकती है। शर्त केवल इतनी है कि उस विषय से सम्बद्ध हमारी इन्द्रिय क्रियाशील हो, सर्वथा कुंठित न हो गई हो। ऊपर जिन भेदों का उल्लेख किया गया है उनका आधार व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि या सस्कारगत भिन्नता है। अब हम मनोविज्ञान के आधार पर कल्पना की विभिन्न रचनात्मक शक्तियों का विचार करेंगे। पहले वर्गीकरण में केवल स्थूल रूप से व्यावहारिक कल्पना का विचार किया गया था। यहाँ हम सक्षेप में उसके भिन्न-भिन्न सृजनात्मक पक्षों के सम्बन्ध मे विचार प्रस्तुत करते हैं।

इस दृष्टि से कल्पना के तीन प्रमुख भेद माने गये हैं—

**१—निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना**—चेतन मन की कल्पना सक्रिय कल्पना कहलाती है। पर मन सदैव चेतनावस्था में ही नहीं रहता। जब वह अपेक्षाकृत कम चेतना की अवस्था में होता है तो उसके भीतर निष्क्रिय कल्पना काम करती है। इस अवस्था में मूर्तियाँ मन के भीतरी स्तरों में अनायास ही उतरती चली जाती हैं। दिवास्वप्न इसी अवस्था का लक्षण है।

**२—धारणात्मक तथा रचनात्मक कल्पना**—धारणात्मक कल्पना के सहारे हम किसी पुस्तक में छपे हुए चित्र को आत्मस्थ करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रयत्न में उस चित्र की व्यवस्था, क्रमबद्धता, एकता तथा लय, सभी कुछ हमे बाह्य प्रेरणा से प्राप्त होते हैं।

रचनात्मक कल्पना इसके ठीक विपरीत होती है। उसके सहारे व्यक्ति आभ्यन्तर प्रेरणा से मानसिक चित्रों के आधार पर नयी काल्पनिक स्थितियों का निर्माण करता है। कोलरिज की 'पुन' सृष्टि विधायिनी कल्पना' बहुत कुछ इसी के पास पड़ती है। परन्तु मनोवैज्ञानिकों ने कला तथा साहित्य का निर्माण करने वाली कल्पना के लिये अलग खाना ही बनाया है। रचनात्मक कल्पना को वे वास्तु-कला-वेत्ता का विषय मानते हैं। जब कोई इंजीनियर किसी सभावित भवन का चित्र प्रस्तुत करता है तो इसी कल्पना से काम लेता है।

**३—बौद्धिक, व्यावहारिक तथा सौंदर्यपरक कल्पना**—न्यूटन ने गिरते हुए

सेब का देखकर पृथ्वी मे जो गुरुत्वाकर्षण की कल्पना की वह बौद्धिक कल्पना का सर्वोत्तम उदाहरण है। कथा-कहानी का रूप-गठन भी प्रायः इसी कल्पना से होता है। बौद्धिक कल्पना धारणात्मक तथा रचनात्मक दोनों ही हो सकती हैं।

व्यावहारिक कल्पना अपेक्षाकृत अधिक स्थूल होती है। उदाहरण के लिये हम दैनिक कार्यक्रम की रूप-रेखा अथवा भावी यात्रा की योजना बनाते हैं—यह व्यावहारिक कल्पना है। साहित्य से इस व्यावहारिक कल्पना का सीधा सम्बन्ध नहीं है।

सौंदर्यपरक कल्पना हमारी सौंदय वृत्ति को तुष्ट करती है। न तो वह हमारी स्थूल आवश्यकता की ही पूर्ति करती है, न उससे हमारे ज्ञानकोश की ही वृद्धि होती है। उससे समृद्ध होता है तो हमारा भावकोश और गौरवमयी होती है तो हमारी अन्तःकरण में स्थित वासना। इस कल्पना का सम्बन्ध सौंदर्य के आविष्कार, निर्माण और परिष्कार से तो है ही, उस सौंदर्य-वस्तु के रसास्वादन से भी है। ग्राहक के भीतर इसकी स्थिति आवश्यक मानी गई है। कवि, चित्रकार, सगीतज्ञ तथा कविता के सहृदय पाठक और चित्रकला के सुबुद्ध दर्शक—इसी कल्पना से प्रेरित होते हैं।

इस सौन्दर्य-परक कल्पना के भी दो भेद माने गये हैं—छायात्मक तथा कलात्मक। जीवन से पराजित युवक एकान्त घर के कोने में बैठकर जिस सौंदर्यलोक की कल्पना करता है वह छायात्मक कल्पना हुई। वहाँ सृजन की उत्कट प्रेरणा नहीं होती, विक्षुब्ध मानस को शान्त करने के लिये कुछ इच्छित वस्तुओं की कल्पना भर कर ली जाती है। न तो उनमें कहीं सामंजस्य होता है, न आरम्भ, न अन्त। एकान्विति नामक गुण का उसमें नितान्त अभाव होता है। साहित्य में भी इस छायात्मक कल्पना के उदाहरण यदा-कदा मिल जाते हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध प्रतीकवादियों की रचनाओं में इसके नमूने देखे जा सकते हैं। वास्तविक कला की सृष्टि कलात्मक कल्पना के द्वारा होती है। सत्य की साधना, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और मन के सूक्ष्म विचारों तथा भावों का प्रकाशन इसी के द्वारा होता है। साहित्य में हम जिस कल्पना का बार-बार उल्लेख करते हैं, वह यही है। इस कलात्मक कल्पना की विशेषता यह है कि वह निर्माण-कार्य में प्रवृत्त होने से पहले शेष सभी कल्पना प्रकारों से अपना उपजीव्य ग्रहण करती है। इसीलिये साहित्य और कला अन्य ज्ञान क्षेत्रों से अधिक व्यापक समझे जाते हैं।

इस विवेचन में हमने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना को समझने की चेष्टा की। वस्तुतः मनोविज्ञान-निरूपित कल्पना के इन रूपों में जिस

बात की विवृति की गई है वह साहित्य में केवल मात्र 'कल्पना' शब्द से जान ली जाती है। एक मनोवैज्ञानिक को यदि 'कामायनी' के प्रथम सर्ग की विवेचना करनी हो तो वह झट से 'स्मृति' शब्द को पकड़ेगा और उसके सहारे उसकी पूरी व्याख्या कर डालेगा। इसी प्रकार कोलरिज के 'कुबला खाँ', जिसकी रचना स्वप्न में की गई थी, की व्याख्या भी स्वप्न सिद्धान्त के आधार पर की जा सकती है। पर साहित्य समीक्षक काव्य की विवेचना करते समय स्मृति, स्वप्न, तथा दिवास्वप्न, इन सभी विशेषताओं को व्यापक रूप से कल्पना के भीतर ही गृहीत कर लेता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनोवैज्ञानिकों की कल्पना की अपेक्षा साहित्यगत कल्पना का क्षेत्र अधिक व्यापक है। काव्यगत कल्पना के सम्बन्ध में शेक्सपीयर की निम्नलिखित पक्तियों से अच्छी व्याख्या कदाचित् न मिले[१]—

कवि की दृष्टि एक सुखद आवेगपूर्ण प्रवाह में
स्वर्ग से पृथ्वी
और पृथ्वी से स्वर्ग की परिक्रमा करती है,
और इस प्रक्रिया से उसकी कल्पना—
अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है और उसकी लेखनी—
वायवीय शून्यता को
स्थानीय आवास एव नाम देती है।

इन पक्तियों को ध्यान से पढ़ने पर काव्यगत कल्पना की दो मुख्य विशेषतायें दीख पड़ेंगी—

१—कवि कल्पना के द्वारा अज्ञात वस्तुओं को रूप देता है।

२—यही नहीं, वह कल्पना के द्वारा वायवीय शून्यता को यथार्थ भी बनाता है।

आवेगपूर्ण प्रवाह, स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक की परिक्रमा आदि की बातें, काव्यगत कल्पना को व्यावहारिक कल्पना से अलग करती हैं। काव्यात्मक निर्माण का सौन्दर्य इसी 'सुखद आवेग' और निरन्तर 'प्रवाह' में है।

---

१— The poet's eye in a fine frenzy rolling
Both glance from heaven to earth
From earth to heaven,
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes and gives to airy nothing
A local habitation and a name.

—A Midsummer Night's Dream

## ३

# कल्पना के कार्य

कीट्स ने कल्पना की तुलना आदम के सपने से की है : 'वह जगा और उसका सपना उसके आगे सत्य बनकर खड़ा था।'† इस कथन के द्वारा कीट्स ने एक बहुत बड़े सत्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तुतः कल्पनात्मक प्रक्रिया एक प्रकार से स्वप्न की ही प्रक्रिया होती है। उसके माध्यम से कवि यथार्थ के स्तर को छूने का प्रयत्न करता है। कल्पना का आधार—अनुभूति—यदि पुष्ट है तो वह इस स्तर को छू लेने में सफल होता है। तात्पर्य यह कि इस काल्पनिक प्रक्रिया के द्वारा कवि स्थूल यथार्थ के अन्तस्सत्त्व को सूक्ष्म रूप से अपने भावलोक में प्राप्त कर लेता है और इसी अर्थ में आदम का सपना उसके लिये सच होता है। कीट्स ने कल्पना के कार्य की ओर भी एक बड़ा मार्मिक संकेत दिया है। कल्पना का कार्य है सत्य का उद्घाटन—सत्य जो विराट् तथ्यों के समूह के तल में छिपा रहता है। अर्थात् कल्पना सत्य की खोज के द्वारा एक वस्तु को दूसरी वस्तु से और अन्त में सम्पूर्ण वस्तुजगत को मानव मन के साथ एक करती है। कल्पना का सर्वोत्तम कार्य ऐक्यविधान है।

कल्पना के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। कुछ लोग उसके कार्य को शृङ्गार के साधन एकत्र करने वाली दासी के कार्य से अधिक महत्त्व नहीं देते। कुछ लोग उसके कार्य को बिम्बनिर्माण तथा औपम्यविधान तक ही सीमित रखते हैं। बेकन ने आज से तीन-साढे तीन सौ वर्ष पहले, कल्पना के कार्य का वर्णन इस रूप में किया था—

'आनन्द के क्षणों में कवि की कल्पना प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं का संश्लेषण कर्त्ता है और इस प्रक्रिया से वह ऐन्द्रिय वस्तुओं के द्वारा एक ऐसा खाद या मिश्रण तैयार करती है जो काव्यनिर्माण में काम आता है।'

बेकन की यह परिभाषा कल्पना के संश्लेषण वाले पक्ष की तो सूचना देती है पर समूचे कल्पना-व्यापार से प्राप्त होने वाली वस्तु को 'मिश्रण' या

---

†. Imagination may be compared to Adam's dream,—he awoke and found it truth.

Writers on Writing—p. 131

कच्चे माल से अधिक महत्त्व नहीं देती। यह कल्पना सम्बन्धी आरम्भिक धारणा है। कल्पना के वास्तविक रूप का परिचय वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने दिया था। उन्होंने कल्पना के विभिन्न कार्यों को समझाने के लिये कुछ मुख्य-मुख्य क्रियाओं का उल्लेख किया है †—

१—कल्पना ऐक्य का विधान करती है।

२—वह वस्तुओं से सार ग्रहण करती है।

३—वह समाहार करती है।

४—वह संगृहीत करती है।

५—वह सस्मृत करती है।

६—वह सगठित करती है।

कल्पना के जितने भी कार्य हो सकते हैं, प्रायः उन सबका उल्लेख सूत्र रूप में कर दिया गया है। उसका प्रथम कार्य ऐक्य-विधान है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सारग्रहण, समाहार, सग्रह, सस्मरण तथा सगठन, ये कल्पना के पाँच अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जिनमें सारग्रहण और संस्मरण अधिक विचारणीय हैं। सारग्रहण का क्षेत्र मूर्तिविधान है। वहाँ कल्पना के लिये प्रकृति और जीवन का खुला मैदान होता है। कल्पना वहाँ सचयन (सिलेक्शन) करती है, प्रकृति के बिखरे हुए उपादानों से जीवन्त मूर्तियों का सकलन करती है। जो वस्तु जैसी है, कल्पना उसको वैसी ही नहीं स्वीकार कर लेती। वह उसे काटती-छाटती है, अपने अनुकूल बनाती है। उसका अगला कार्य यह होता है कि वह इन समाहृत मूर्तियों अथवा बिम्बों का सग्रह करती है, उन्हें हमारे मानसिक परिवेश का अंग बना देती है। उसका अन्तिम कार्य सगठन का है। सगठन और ऐक्य-विधान में अन्तर है। सगठन अधिक स्थूल कार्य है, उसका सम्बन्ध वस्तु के ऊपरी ढाचे से है। वह एक कुर्सी, मेज अथवा दीवार में भी हो सकता है। पर ऐक्यविधान अधिक सूक्ष्म वस्तु है। वह वस्तु के भीतर होता है। वह दृश्य नहीं होता, केवल एक लय अथवा प्रवाह के रूप में उसको अनुभव किया जा सकता है। एक रचनात्मक कृति में यह लय अथवा प्रवाह कल्पना ही लाती है।

साहित्य में कल्पना कई रूपों में प्रकट होती है। आई० ए० रिचर्ड्स ने अपनी 'साहित्यिक समीक्षा के सिद्धान्त' पुस्तक में इन विभिन्न रूपों की विशद विवेचना की है। सामान्यत. उसके छ' रूप देखे जा सकते हैं—

---

† It unites, it abstracts, it modifies, it aggregates, it evokes, it combines.

(१) मूर्तियों, बिम्बों तथा मर्मच्छवियों का निर्माण उसी की क्रिया का परिणाम है। छायावादी कविता में कल्पना का सर्वोत्तम रूप इसी में व्यक्त हुआ है। सम्मूर्त्तन विधान वाले अध्याय में इसका विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा।

(२) अलंकृत भाषा के प्रयोग में भी कल्पना ही कार्य करती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों का निर्माण इसी के अन्तर्गत आता है। कल्पना अपने इस कार्य के द्वारा काव्य में रूप-वैविध्य लाती है, उसकी एक-स्वरता (मोनोटोनी) को दूर करती है तथा इस प्रकार अप्रस्तुत के योग से प्रस्तुत को सम्पन्न बनाती है।

(३) साहित्य में कल्पना का एक सीमित पक्ष भी होता है जिसकी स्थिति ग्राहक अथवा प्रेक्षक में होती है। यह एक प्रकार की निष्क्रिय कल्पना होती है जो पाठक को काव्य के रसास्वादन में सहायता पहुँचाती है। इसी के सहारे पाठक किसी रचना के सौंदर्य के तल तक पहुँचने में समर्थ होता है।

(४) साहित्यिक कृतियों में कल्पना का एक अत्यन्त स्थूल रूप भी देखने में आता है। शब्दालंकार की योजना, वक्रोक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

(५) यह एक प्रकार की तात्त्विक कल्पना होती है जो भौतिक सीमाओं तथा नियमों से बाधित नहीं होती। इसका आधार तथ्य होना है। समीक्षक इसी कल्पना से काम लेता है। साहित्य तथा कला का शिल्प एवं तंत्र पक्ष इसी के अन्तर्गत आता है। साहित्य-शास्त्र के निर्माण में भी इसी कल्पना का योग होता है। उसी के अभाव में कभी-कभी कोई समीक्षक किसी रचना के सौन्दर्य को परखने में चूक जाता है। एक श्रेष्ठ समीक्षक में इस कल्पना का होना नितान्त आवश्यक है।

(६) कल्पना का अन्तिम और साहित्यिक दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कार्य है मौलिक उद्भावना (ओरिजिनल फार्मुलेशन)। इसी के द्वारा साहित्य में नये-नये विषयों की खोज, सरस मार्मिक प्रसंगों की योजना, समर्थ जीवन्त पात्रों की रचना होती है। कल्पना के इसी पक्ष से ऐक्य-विधान का सम्बन्ध है। उसके सम्बन्ध में कोलरिज ने निम्नलिखित व्याख्या दी थी—

'वह ऐन्द्रजालिक [1] संश्लेषणात्मक शक्ति, जिसे हमने 'कल्पना' नाम दे

[1]—That synthetic and magical power to which we have exclusively appropriated the name of imagination, reveals itself in the balance or reconciliation of opposites or discordant qualities.
—Biographia Literaria, 11, p. 12.

रक्खा है, अपने को विरोधी स्थितियों तथा विषम गुणों के सन्तुलन एव समन्वय में प्रकट करती है।'

यह कल्पना का महत्तम कार्य है। इसी के ससपर्श से किसी कलाकृति में जीवन आता है तथा पुरानी वस्तुओं में नया सौन्दर्य उद्भासित होता है। इसी के द्वारा कला में वह सयम आता है जिसको विवेक अथवा तर्क से पाना असमव है। रचना का सामूहिक प्रभाव, जिसे कोलरिज ने 'सगीतमय आनन्द-बोध' (सेन्स आव म्युजिकल डिलाइट) की सज्ञा दी है—कल्पना के इसी स्वरूप तथा कार्य का चरम उत्कर्ष है। साहित्य में जिस कल्पना के महत्व का बखान किया जाता है उसका वास्तविक स्वरूप यहीं देखने में आता है।

'सगीतमय आनन्द बोध' क्या वस्तु है? कोलरिज के अनुसार यह उस स्थिति का नाम है जिसमें बहुत सी वस्तुओं में व्याप्त अनेकता एक आन्तरिक लय के सूत्र में बँधकर एक हो जाती है और बहुत से विचार या भाव समाहृत होकर केवल मात्र एक विचार या भाव रह जाते हैं। बहुत कुछ अपने यहाँ की जो रसदशा है वही कोलरिज के शब्दों में 'सगीतमय आनन्द-बोध' की स्थिति है।

विरोधों में समरसता तथा विपरीत स्थितियों में समवेदना (या अनुकूल वेदना) लाने का कार्य कल्पना का है जो दु खान्त नाटकों में अच्छी तरह देखा जा सकता है। वहाँ दो विरोधी भाव होते हैं—करुणा तथा भय—(पिटी एण्ड टेरर)। आरम्भ से अन्त तक इन्हीं दोनों भावों का परस्पर सघात नाटक में शक्ति और जीवन लाता है। हिन्दी में दुःखान्त नाटकों का अभाव है। भारतीय काव्य परम्परा में दुःखान्त नाटक जैसी कोई चीज न थी। इसके कारण की विवेचना तरह-तरह से की गई है, जिससे प्रस्तुत विषय का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'प्रसाद' जी का नाटक 'स्कन्दगुप्त' इस दृष्टि से विचारणीय हो सकता है। यद्यपि यह नाटक दु खान्त नहीं है, पर इसके कथानक का सम्पूर्ण प्रवाह अवसाद की ओर ही दौड़ता हुआ दिखाया गया है। अतः इस पर दु खान्त नाटकों की छाया मानी जा सकती है। यहाँ करुणा तथा भय के प्रतीक स्कन्दगुप्त तथा उसकी विरोधी परिस्थितियाँ हैं, जिनका विस्तार विमाता के रोष, विदेशियों के आक्रमण, बौद्धों के षड्यन्त्र तथा प्रपचबुद्धि की श्मशान लीला तक फैला हुआ है। नाटककार हमें बड़े विश्वास के साथ धीरे-धीरे परिणाम की ओर ले जाता है। यह अन्तिम बिन्दु स्कन्दगुप्त की विरक्ति तथा पुरुगुप्त की अधिकारलिप्सा की टकराहट का बिन्दु है। हम पाते हैं कि नाटककार दोनों विरोधी परिस्थितियों को केवल आमने-सामने ला देता है और अलग हो जाता है। तीव्रतम सीमा पर पहुँचा हुआ सघर्ष थम जाता है और

मय धीरे-धीरे शमित हो जाता है। करुणा का उज्ज्वल आलोक चारों ओर फैला रह जाता है। करुणा की यही तीव्रता दुःखान्त नाटकों का प्राण है जिसे योरोपीय समीक्षा में रेचन-क्रिया (केथरसिस) के नाम से जाना जाता है। 'रेचन' की उत्पत्ति विरोधी परिस्थितियों के सन्तुलन से होती है जो कोलरिज के अनुसार कल्पनाप्रदत्त 'संगीतमय आनन्द बोध' का प्रसाद है। अतः पुरुगुप्त की नैतिक पराजय तथा स्कन्दगुप्त की आध्यात्मिक विजय से जिस रस की अनुभूति सहृदय को होती है वह 'संगीतमय आनन्द बोध' का ही उदाहरण है।

ये विरोधी स्थितियाँ यदि दो बाह्य पदार्थों में न दिखायी जाकर एक ही व्यक्ति के भीतर आन्तरिक द्वन्द्व के रूप में दिखायी जायें तो वहाँ काव्यात्मक 'रेचन' का अन्यतम रूप सामने आता है—जैसे शेक्सपीयर के हैमलेट में।

प्रश्न है कि यह काव्यात्मक संतुलन कहाँ से आता है? क्या उसकी स्थिति कथानक की बनावट में होती है? नहीं, वह कथानक की बनावट से नहीं पैदा होता। यदि वह कथानक की गठन में होता है तो फिर छठीं प्रकार की कल्पना से उसका सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः यह सन्तुलन नाटकीय पात्र तथा प्रेक्षक के परस्पर भावविनिमय से पैदा होता है। ऐसे स्थलों पर परस्पर भाव-विनिमय का व्यापार भी एक प्रकार का काल्पनिक व्यापार ही होता है।

आचार्य शुक्ल ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्य का सारा रूप-विधान कल्पना के हाथों होता है। कल्पना का जन्म प्रकृति तथा मन के परस्पर सम्बन्धों से होता है। मन उन भावों तथा अनुभूतियों का कोश है जो प्रकृति के साहचर्य से उसके भीतर उत्पन्न होती हैं और प्रकृति का अर्थ है वह आधार जो उन भावों का आलम्बन होता है। शास्त्रीय पदावली में कहें तो जितने भी काव्य के उपादान हैं उनमें भाव को छोड़कर शेष सभी कल्पना के कार्य की सीमा में आते हैं। उन सभी की सृष्टि कल्पना करती है। प्रश्न हो सकता है कि रस-निष्पत्ति में कल्पना का क्या योग है? शुक्ल जी ने इसके सम्बन्ध में लिखा था—

'विलायती साहित्य में कल्पना कल्पना की धूम देखकर कुछ लोग कहते हैं कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में कल्पना-पक्ष बिल्कुल छूट गया है। पर जो लोग रसपद्धति को जानते हैं वे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा निरूपित भाव के स्वरूप से भी परिचित हैं। वह एक वृत्तिचक्र है जिसके अन्तर्गत—

१—प्रत्यय

२—अनुभूति

३—इच्छा

४—गति या प्रकृति

५—शरीर धर्म, आते हैं।'[1]

रस-निष्पत्ति में इस पूरे वृत्तिचक्र का महत्वपूर्ण योग होता है। प्रत्यय किसी वस्तु के सम्बन्ध में हमारा पहला ज्ञान है। अनुभूति का स्थान उसके बाद आता है। फिर उसके बाद हम उसके प्रति प्रवृत्तिशील होते हैं, यह तीसरा चक्र है। इसके अनन्तर उसका सम्पर्क हमारी प्रकृति से होता है और सबसे अन्त में शरीर धर्म अर्थात् अनुभव आदि आते हैं। काव्य में इनमें से प्रायः सभी चक्रों का सम्बन्ध कल्पना से है। विभावों और अनुभावों की योजना उसी के द्वारा होती है। अतः रसनिष्पत्ति में कल्पना का क्या स्थान है, यह इससे स्पष्ट हो गया। विभावानुभाव सचारीभाव की स्थिति के बिना रस की पूर्ण निष्पत्ति असभव है। इनकी प्रतिष्ठा कल्पना के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के द्वारा नहीं होती। इतना अवश्य है कि इस पूरे चक्र में कल्पना साधन रूप होती है, साध्य नहीं। साध्य तो रस ही होता है।

अब प्रश्न रह जाता है कि भाव और कल्पना का क्या सम्बन्ध है? शुक्ल जी के अनुसार 'रसकाल में दोनों का युगपत् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।'* कवि कल्पना का सहारा अपनी भावुकता की तुष्टि के लिये लेता है। कविकर्म के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं—

१—भाव। यह रस की मौलिक भूमि है।

२—कल्पना। भाव को प्रेषणीय बनाने का साधन है। अरिस्टोट्ल का यह कथन यहाँ उल्लेख्य है कि ईश्वर भी अपने को ललित कल्पना के माध्यम से ही प्रेषणीय बनाता है। अर्थात् कल्पना की सहायता के बिना प्रेषणीयता असम्भव है।

३—भाषा। यह उस प्रेषणीयता का साधन है। कल्पना का स्थान भाव तथा भाषा के मध्य में है।

बिना कल्पना के भाव की स्थिति सभव है। पर बिना भाव के कल्पना कहीं नहीं होती। पर जब काव्य में दोनों का योग होता है तो वहाँ दोनों एक दूसरे को प्रभावित तथा निरूपित करने में समान रूप से योग देते हैं। कल्पना भाव की सहयोगिनी है, पर ऐसी सहयोगिनी जिसके बिना कवि अपनी भावना को दूसरे तक पहुँचा ही नहीं सकता। क्योंकि जब तक काव्य मे व्यक्त भाव अथवा विचार हमारे मानस में मूर्त होकर नहीं उतर जाते तब तक उनका पूर्ण रसास्वादन प्राय: असंभव है। बिम्बग्रहण कल्पना ही

---

१—काव्य में रहस्यवाद—(चिन्तामणि—२) पृ० ६६।

*—काव्य में रहस्यवाद—(चिन्तामणि—२) पृ० ११२।

करती है, ऐसा एडिसन के प्रसंग में कहा जा चुका है। बिम्ब अथवा चित्र कवि के भावों को और अधिक तीव्र बनाते हैं तथा उनको आकार देते हैं। रूप-विधान का मैदान अनन्त है, जिसमें दृष्ट, स्पृष्ट, श्रुत, घ्रात तथा अनुभूत सभी प्रकार के विषय भरे पड़े हैं। बिम्ब निर्माण का क्षेत्र एक विराट् जंगल है जिसमें पैठकर सुन्दर अलभ्य मूर्तियों को ढूँढ़ लाना कल्पना का काम है। कल्पना का यह प्रयोग प्रस्तुत के भीतर आता है। काव्य का एक बहुत बड़ा भाग अप्रस्तुत पर आधारित है। उनकी योजना भी कल्पना ही करती है। इसका उल्लेख संगठनात्मक कल्पना के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस पूरे विवेचन से इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि भावोद्रेक से कल्पना का इतना ही सम्बन्ध है कि वह उसको प्रेषणीय बनाती है, और मूर्त रूप देती है।

रसों के जितने भी आलम्बन होते हैं उनके निर्माण में भी कल्पना का बहुत बड़ा हाथ है। भारतीय साहित्य शास्त्र में जिन उद्दीपनों की लम्बी तालिका गिनाई गई है उनका चयन भी कल्पना ही करती है। अनुभव-व्यापार तो सबसे अधिक मूर्त होता है। कल्पना उन्हें खोजकर कवि के सामने कर देती है। आश्रय की आन्तरिक अनुभूति को बाह्य चेष्टाओं के रूप में मूर्त्त करना भी कल्पना ही का काम है। वस्तुतः इस प्रकार के जो बाह्य व्यापार होते हैं उनका आपात दृश्यमान क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। जितनी भी चेष्टायें और व्यापार हो सकते हैं उनका उल्लेख लक्षण ग्रन्थों में कर दिया गया है। अतः वहाँ कल्पना के लिये खुल खेलने का अवकाश नहीं है। इन लक्षण ग्रन्थों को आदर्श मानकर चलने वाले पुराने कवियों की कल्पना का द्वार बन्द सा हो गया था। कल्पना ने वहाँ दूसरा रास्ता निकाल लिया। आश्रय की उक्तियों की कोई सीमा नहीं होती। अतः वहाँ कल्पना ने नाना रूपों में अपने को व्यक्त किया—वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, चमत्कार सृष्टि आदि उसी के परिणाम हैं। इस भूमि पर कल्पना को जितना अधिक फैला सकने की सामर्थ्य कवि में होगी वह वक्ता के उतने ही गहरे मानसिक स्तरों को छू सकेगा। इस प्रकार के वर्णन में वैचित्र्य के लिये पूरा अवकाश है। मन की गति अबाध है। उसका प्रवाह नदी की तरह नहीं होता जो तटों से बँधकर बहती है; वह हवा की तरह हल्का और संवेदनशील होता है जिसका विस्तार पर्वत की अंधगुफाओं से लेकर सागर की अतल गहराइयों तक होता है। मन के विविध स्तर होते हैं। उन स्तरों में भी ऊँचाई-निचाई के हिसाब से विविध आयाम (डाइमेन्शन्स) होते हैं। कवि-कल्पना की सफ-

लता इन अधिक से अधिक आयामों को छू लेने में है। ऐसे ही गूढ़ भावों की अभिव्यक्ति में लक्षणा एव व्यंजना से काम लिया जाता है। भाषा के सामान्य शब्दों में अभिनव अर्थों का उद्घाटन भी कल्पना ही करती है। इस सम्बन्ध में आइ० ए० रिचर्ड्स का कहना है कि—

'शब्दों में अर्थ का प्रक्षेपण स्वत. कल्पना का ही कार्य है।'*

'गुलाब' शब्द रूढ़ है। हम परम्परा से उसका अर्थ पुष्प-विशेष लेते आये हैं। पर जब कोई कहता है कि 'उदास गुलाब का फूल डाल पर झुक कर सो गया है,' तो इस कथन से 'गुलाब' से बड़ा कोई अर्थ हमारे भीतर व्यक्त होता है। अर्थ का यह चमत्कार कल्पना का व्यापार है। पर शब्दों के इस खेल में एक खतरा भी है जिससे एक श्रेष्ठ कवि को बचना चाहिये। कल्पना जब स्थूल आधार को लेकर शब्दों का खिलवाड़ करती है तो वहाँ काव्य का प्रकृत सौन्दर्य दब-सा जाता है, उसकी अन्तर्निहित व्यजकता जाती रहती है और वह कोरा मनोरजन का साधन बनकर रह जाता है। रीतिकाल के दरबारी कवियों ने इस प्रकार के सस्ते चमत्कारों से कुछ दिनों तक प्रकृत काव्य को ढक-सा लिया था। पर शब्दों का यही कल्पना-व्यापार जब विषय के अनुरूप संगीत तथा लय की योजना में प्रवृत्त होता है तो वहाँ वह काव्य की शोभा को बढ़ाता है, उसे अधिक ग्राह्य बनाता है। अगरेजी के मिल्टन तथा हिन्दी के चन्द आदि में कल्पना का यह रूप मिलता है। अगरेजी मे इसे आडिटरी इमैजिनेशन (ध्वनिकल्पना) कहते हैं।

प्रबन्ध काव्यों में उदात्त तथा विशद भावनाओं की योजना भी कल्पना का ही व्यापार है। रहस्यात्मक अनुभूतियों के द्वारा पाठक को अतीन्द्रिय एव लोकोत्तर जीवन के स्पर्श से स्पन्दित करना भी कल्पना का ही काम है। अदृष्ट सौन्दर्य लोक, स्वप्न, उत्कर्ष, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, ऐश्वर्य, प्रताप आदि भावों की योजना भी कल्पना ही प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त सारा विधान प्रस्तुत के अन्तर्गत आयेगा। कल्पना का इससे भी व्यापक क्षेत्र अप्रस्तुत का है। इनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सदेह, विभावना, अतिशयोक्ति आदि जितने भी अलकार हैं—काव्य में उनको लाने का श्रेय कल्पना को ही है।

मूर्त्तिविधान, प्रतीकचयन, साध्यावसान रूपक आदि के द्वारा भावों को परिचित रूप देने में कल्पना सबसे अधिक दौड़ लगाती है। कभी कभी तो कविता के जाने-पहचाने पदों का अर्थ इतना बदल जाता है कि सामान्य पाठक की

---

* Projection of meaning into words is itself an imaginative process

—Coleridge on Imagination. p. 86.

बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। नीचे कुछ छन्दों के विवेचन द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा रहा है।

पंत—

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस,
* * *
भूकता सिड़ी शिशिर का श्वान,
चीरते हरे! अचीर शरीर,
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों में ही नीर!

निराला—

गाया जो राग, सब वहा,
केवल मिजराब ही रहा,
खिंचा हुआ हाथ, शून्य
यह सितार-तार!

इन उद्धरणों के प्रायः सभी चित्र उपलक्ष्य बनकर आये हैं। कवि का मूल वक्तव्य इन पंक्तियों के आपात दृश्यमान चित्रों में नहीं, इनसे प्राप्त होने वाले लक्ष्यार्थ में है। इस प्रतीक-पद्धति को शास्त्रीय पदावली में 'साध्यवसान लक्षणा' कह सकते हैं। इन प्रतीकों की विशेषता यह है कि एक ओर तो ये अपने से बड़े किसी सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं, दूसरी ओर इनकी अपनी कलात्मक सत्ता भी है अर्थात् इनके स्पर्श से काव्य का आभ्यन्तर सौंदर्य उद्‌भासित होता है, ये काव्य के सौंदर्य में अपनी ओर से कुछ जोड़ते हैं। अब एक-एक करके इनके अर्थगत वैशिष्ट्य को समझ लें—

पंत—

सौरभ का मधुमास —सुख तथा समृद्धि का काल
शिशिर —दैन्य तथा उदासी की स्थिति
सिड़ी शिशिर का श्वान—पतझड़ में बहने वाली पछुवा हवा जो सीत्कारती चलती है। इससे दुःख तथा पीड़ा के घिराव की व्यंजना होती है।
न अधरों में स्वर —पीड़ा की अन्तिम स्थिति मूकता का बोधक।
नयनों में ही नीर—अभाव के आतिशय्य का द्योतक।

निराला—

राग —माधुर्य तथा प्रेम का प्रतीक
मिज़राब —विगत प्रेम का प्रतीक जो अंतर में एक ग्रन्थि बनकर रह गया है।

लता इन अधिक से अधिक आयामों को छू लेने में है। ऐसे ही गूढ भावों की अभिव्यक्ति में लक्षणा एव व्यजना से काम लिया जाता है। भाषा के सामान्य शब्दों में अभिनव अर्थों का उद्‌घाटन भी कल्पना ही करती है। इस सम्बन्ध में आइ० ए० रिचर्ड् स का कहना है कि—

'शब्दों में अर्थ का प्रक्षेपण स्वतः कल्पना का ही कार्य है।'*

'गुलाब' शब्द रूढ है। हम परम्परा से उसका अर्थ पुष्प-विशेष लेते आये हैं। पर जब कोई कहता है कि 'उदास गुलाब का फूल डाल पर झुक कर सो गया है,' तो इस कथन से 'गुलाब' से बड़ा कोई अर्थ हमारे भीतर व्यक्त होता है। अर्थ का यह चमत्कार कल्पना का व्यापार है। पर शब्दों के इस खेल में एक खतरा भी है जिससे एक श्रेष्ठ कवि को बचना चाहिये। कल्पना जब स्थूल आधार को लेकर शब्दों का खिलवाड़ करती है तो वहाँ काव्य का प्रकृत सौन्दर्य दब-सा जाता है, उसकी अन्तर्निहित व्यजकता जाती रहती है और वह कोरा मनोरजन का साधन बनकर रह जाता है। रीतिकाल के दरबारी कवियों ने इस प्रकार के सस्ते चमत्कारों से कुछ दिनों तक प्रकृत काव्य को ढक-सा लिया था। पर शब्दों का यही कल्पना-व्यापार जब विषय के अनुरूप सगीत तथा लय की योजना में प्रवृत्त होता है तो वहाँ वह काव्य की शोभा को बढ़ाता है, उसे अधिक ग्राह्य बनाता है। अगरेजी के मिल्टन तथा हिन्दी के चन्द आदि मे कल्पना का यह रूप मिलता है। अगरेजी में इसे आडिटरी इमैजिनेशन (ध्वनिकल्पना) कहते हैं।

प्रबन्ध काव्यों में उदात्त तथा विशद भावनाओं की योजना भी कल्पना का ही व्यापार है। रहस्यात्मक अनुभूतियों के द्वारा पाठक को अतीन्द्रिय एव लोकोत्तर जीवन के स्पर्श से स्पन्दित करना भी कल्पना का ही काम है। अदृष्ट सौन्दर्य लोक, स्वप्न, उत्कर्ष, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, ऐश्वर्य, प्रताप आदि भावों की योजना भी कल्पना ही प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त सारा विधान प्रस्तुत के अन्तर्गत आयेगा। कल्पना का इससे भी व्यापक क्षेत्र अप्रस्तुत का है। इनमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सदेह, विभावना, अतिशयोक्ति आदि जितने भी अलकार हैं—काव्य में उनको लाने का श्रेय कल्पना को ही है।

मूर्त्तिविधान, प्रतीकचयन, साध्यावसान रूपक आदि के द्वारा भावों को परिचित रूप देने में कल्पना सबसे अधिक दौड़ लगाती है। कभी कभी तो कविता के जाने-पहचाने पदों का अर्थ इतना बदल जाता है कि सामान्य पाठक की

---

* Projection of meaning into words is itself an imaginative process.

—Coleridge on Imagination. p. 86.

बुद्धि चमत्कृत हो जाती है। नीचे कुछ छन्दों के विवेचन द्वारा इस बात को स्पष्ट किया जा रहा है।

पंत—

आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस,
*  *  *
झूकता सिड़ी शिशिर का श्वान,
चीरते हरे ! अचीर शरीर,
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों मे ही नीर !

निराला—

गाया जो राग, सब बहा,
केवल मिजराब ही रहा,
खिंचा हुआ हाथ, शून्य
यह सितार-तार !

इन उद्धरणों के प्रायः सभी चित्र उपलक्ष्य बनकर आये हैं। कवि का मूल वक्तव्य इन पक्तियों के आपात दृश्यमान चित्रों में नहीं, इनसे प्राप्त होने वाले लक्ष्यार्थ में है। इस प्रतीक-पद्धति को शास्त्रीय पदावली मे 'साध्यवसान लक्षणा' कह सकते हैं। इन प्रतीकों की विशेषता यह है कि एक ओर तो ये अपने से बड़े किसी सत्य को अभिव्यक्ति करते हैं, दूसरी ओर इनकी अपनी कलात्मक सत्ता भी है अर्थात् इनके स्पर्श से काव्य का आभ्यन्तर सौंदर्य उद्‌भासित होता है, ये काव्य के सौंदर्य में अपनी ओर से कुछ जोड़ते हैं। अब एक-एक करके इनके अर्थगत वैशिष्ट्य को समझ लें—

पंत—

सौरभ का मधुमास —सुख तथा समृद्धि का काल
शिशिर —दैन्य तथा उदासी की स्थिति
सिड़ी शिशिर का श्वान—पतझड़ मे बहने वाली पछुवा हवा जो सीत्कारती चलती है। इससे दुःख तथा पीड़ा के घिराव की व्यंजना होती है।
न अधरों में स्वर —पीड़ा की अन्तिम स्थिति मूकता का बोधक।
नयनों में ही नीर—अभाव के आतिशय्य का द्योतक।

निराला—

राग —माधुर्य तथा प्रेम का प्रतीक
मिज़राब —विगत प्रेम का प्रतीक जो अंतर में एक ग्रन्थि बनकर रह गया है।

खिंचा हुआ हाथ—आन्तरिक भावों के तनाव का व्यंजक
शून्य यह सितार-तार—जीवन की निस्सारता का प्रतीक।

इन पंक्तियों के प्रस्तुत अर्थ से परे जो एक अभिनव अर्थ का बोध हमें होता है, वस्तुतः वही इनका मौलिक अर्थ है। इस अर्थगत संक्रमण के मूल में कल्पना ही काम कर रही है। अर्थों का यह संक्रमण छायावादी कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता है और इससे भी यह सिद्ध होता है कि कल्पना से छायावाद का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन कवियों का अध्ययन करते समय हमें अर्थों की मौलिक भूमि में इतना बड़ा परिवर्तन देखने को नहीं मिलता।

कल्पना-व्यापार का एक अत्यन्त परिष्कृत रूप आजकल के कथा-साहित्य में मिलता है। पुरानी निजधरी कथाओं, जनश्रुतियों, लोकोक्तियों तथा मुहाविरों के निर्माण में कल्पना का योग असंदिग्ध है। आधुनिक कथा-साहित्य और प्राचीन निजधरी कथाओं के मूल में एक ही कल्पना का व्यापार है, पर दोनों की प्रकृति में एक बहुत बड़ा अन्तर है। निजधरी कथाओं का निर्माण लोक-कल्पना के द्वारा होता है और उनकी रचना में समय लगता है, वे एक दिन में ही नहीं निर्मित हो जातीं। पर आधुनिक कथा-साहित्य का निर्माण व्यक्ति की कल्पना के द्वारा होता है और वह एक दिन में, एक पहर में अथवा एक घंटे में भी हो सकता है। पुराण तथा गाथाओं (मिथ) का निर्माण जातीय-कल्पना के तप का फल है जिसमें शताब्दियों की साधना लगी है। अतः कथा साहित्य की रचना पूरी तरह कल्पना व्यापार पर आधारित है। प्लाट की खोज से लेकर, पात्रों के चुनाव, संवाद, घटना व्यापार, परिस्थिति योजना आदि कथा के सभी उपादानों में कल्पना का योग अनिवार्य है। ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों का तो सारा कलेवर ही कल्पना के हाथों रचा जाता है। इतिहास की निष्प्राण घटनाओं में प्राण डालने का काम वही करती है। कल्पना का उच्चतम ऐक्यविधान तथा संतुलन ही 'युद्ध और शांति' (टाल्सटाय) जैसे विशाल-काय उपन्यास को कला का उत्कृष्टतम रूप दे सका। कवि कल्पना और कथाकार की कल्पना में यदि कोई अन्तर हो सकता है तो केवल इतना ही कि कवि मानवीय-भावनाओं तथा संवेगों पर आधारित होने के कारण तात्कालिक स्थूल सीमाओं का बन्धन नहीं स्वीकार करता जब कि कथाकार पग पग पर घटनाओं से बंधा हुआ होता है।

कल्पना का चरम उद्देश्य है पाठक को रचना के माध्यम से 'संगीतमय आनन्द बोध' की स्थिति तक पहुंचाना जो स्वयं काव्य का भी उद्देश्य है। इस प्रकार काव्य और कल्पना में उद्देश्यगत एकता है।

———

# ४

# कल्पना और परिवेश

मनुष्य और परिवेश का सम्बन्ध चिरन्तन है। वह जो भी आकार ग्रहण करता है, उस पर परिवेश की छाप बड़ी गहरी और स्पष्ट होती है। परिवेश क्या है? वह, व्यक्ति के चतुर्दिक् जो एक इतिहास का गतिशील चक्र होता है, उसी का नाम है। उसके भीतर हमारी प्रकृति, हमारा धर्म, हमारी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ, हमारा सम्पूर्ण समाज होता है। अतः परिवेश के अन्तर्गत हमारे वर्तमान और अतीत, दोनों ही आ जाते हैं। हमने अब तक कल्पना का अध्ययन व्यक्ति के आधार पर किया है। अब हम उसे एक व्यापक भूमिका पर रखकर देखेंगे। चूँकि मनुष्य अपने परिवेश से अविच्छिन्न रूप से बंधा हुआ है, अतः उसकी 'कल्पना' भी उससे किसी-न-किसी रूप में सम्पृक्त होगी, उससे अलग उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। कुछ विचारकों ने कल्पना को अन्तर्दृष्टि के स्तर पर रखकर उसकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने की चेष्टा की है। पर उन विचारकों को भी कहीं-न-कहीं उसको बाह्य प्रकृति के साथ जोड़ना पड़ा है। अतः परिवेश और कल्पना विलोम नहीं हैं, दोनों में कहीं-न कहीं गहरा सम्बन्ध है।

साहित्य में जिसे बोध-तत्व कहते हैं उसका सम्बन्ध बाह्य यथार्थ से अधिक है। यह बोध-तत्व ही रस-प्रक्रिया का विभावन-व्यापार है। यदि रस-निष्पत्ति में विभावन-व्यापार का योग अनिवार्य है तो यह मानना होगा कि बोध-तत्व के बिना काव्य का उद्देश्य सिद्ध ही नहीं हो सकता। आसपास के जीवन की हमारी जानकारी, अन्यान्य साहित्येतर विषयों का हमारा ज्ञान, प्रकृति की मर्मच्छवियों से हमारा अधिकाधिक रागात्मक सम्बन्ध—इन सब की स्थिति बोध-पक्ष के भीतर ही मानी जायेगी। ये सब मिलकर कल्पना के लिये भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

गहरे पैठकर देखने पर साहित्यिक निर्माण में तीन प्रमुख तत्त्व पाये जायेंगे।

१—संवेदना  
२—भाव  
३—विचार

संवेदना का सम्बन्ध मानव की मौलिक वृत्तियों से है। वह सबसे कम परिवर्तनशील है। इसीलिये उसका प्रभाव सबसे अधिक तीव्र होता है। परिस्थितियों के बदलने के साथ सम्भव है कि कुछ पुरानी संवेदनायें मर जायँ,

कुछ नई पैदा हो जायँ, अथवा कई अस्पष्ट-सी सवेदनायें मिलकर एक नई, पहले से अधिक तीव्र संवेदना का रूप धारण कर लें, पर साहित्य में आदिम से आदिम सवेदना का प्रभाव भी अक्षुण्ण रहता है। यही कारण है कि वैदिक ऋचायें आज भी हमें इतना अधिक प्रभावित कर सकने में समर्थ हैं, यद्यपि यह सच है कि मंत्रद्रष्टा ऋषि को उषा के आकस्मिक आलोक से जो अनुभूति हुई होगी, ठीक वही अनुभूति एक यान्त्रिक युग के मनुष्य को नहीं हो सकती। फिर वह कौन-सा तत्त्व है जो वैदिक ऋचाओं को आज भी इतना मर्मस्पर्शी बनाये हुए है ? निश्चय ही वह उसका सवेदनातत्त्व है जिसके तार हमारे भीतर भी झंकृत होते रहते हैं। शाकुतल का एक प्रसिद्ध श्लोक है जो आधुनिक सहृदयवर्ग में भी वहुत प्रिय है—

रम्याणि वीक्ष्य, मधुरांश्च निशम्य शब्दा
न्पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥‡

रमणीय वस्तुओं को देखकर या श्रुतिमधुर शब्दों को सुनकर सुखी जन भी जो उदास-सा हो उठता है उससे निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि वह विना जाने हुए भी वासना रूप से स्थित जन्मान्तरीय प्रेम का ही स्मरण कर रहा है।

आज का विज्ञानविश्वासी मनुष्य जन्मान्तर में विश्वास नहीं रखता। पर उसके मर्म को भी यह श्लोक स्पर्श करता है, इसमें सन्देह नहीं। इसका क्या कारण है ? स्पष्ट ही इसका कारण रम्य वस्तु तथा मधुर शब्द के प्रति मानव-हृदय की सहज उत्सुकता है जो चिरन्तन है और जिसका सम्वन्ध उसकी सवेदना से है। काव्य के समस्त तत्त्वों में सवेदना का प्रभाव देश-काल से सबसे कम सीमित है।

भाव सवेदना की अपेक्षा कम प्रकृत और अधिक परिवर्तनशील हैं। उनका सम्वन्ध मानव सभ्यता के विकास के साथ है। सभ्यता तथा सस्कृति की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य के अन्तर्जगत में भी विकास होता गया और इसी आभ्यन्तर विकास का नाम भाव है। आदिम मनुष्य में संवेदनायें अधिक जाग्रत थीं, भाव कम। जैसे-जैसे मनुष्य का सौन्दर्यवोध परिष्कृत होता गया वैसे-वैसे उसकी भाव-सम्पदा भी गौरवमयी होती गई। भाव का सम्बन्ध अन्यान्य इन्द्रियों से उतना नहीं है जितना भाव से। इसीलिये मानसिक विकास के विना भावों का विकास असम्भव है। मन के वाह्य आधार परि-

‡ अभिज्ञान शाकुंतल—पचम अङ्क—श्लोक २।

वर्तनशील होते हैं, उनमे यह परिवर्तन की प्रक्रिया बड़ी तीव्रता से चलती रहती है। अतः भाव भी बाह्य यथार्थ के साथ-साथ बड़ी तेजी से बदलते जाते हैं। यही कारण है कि भाव देशकाल की सीमाओं से अधिक सीमित होते हैं। उदाहरण के लिये बिहारी के भाव आज हमारे मानसिक परिवेश के लिये उतने परिचित नहीं हैं, पर बिहारी की संवेदना आज भी उतनी ही तीव्रता से स्पर्श करती है—

> सघन कुज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
> मन ह्वै जात अजौं वहीं, वा जमुना के तीर॥

विचार, संवेदना और भाव दोनों की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होते हैं। भौतिक परिवर्तन से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इसीलिये एक युग के विचार दूसरे युग को उतना प्रभावित नहीं करते, जितना भाव या संवेदना। कभी-कभी तो एक युग के विचार दूसरे युग में हास्यास्पद-से बन जाते हैं। विचारों का प्रभाव देश की सीमा में जितना होता है, आवश्यक नहीं कि उसके बाहर भी उतना ही हो। गेटे के भाव हमे जितना प्रभावित करते हैं, हीगेल के विचार भी उतनी ही प्रेरणा दें, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है। यह सब होते हुए भी विचार का इतना महत्व है कि उसको बिना प्रतिबिम्बित किये कोई भी साहित्यिक रचना अथवा कलाकृति अपने युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। रामचरितमानस अथवा कामायनी की श्रेष्ठता इसी बात में है कि उनमें युग की संवेदनाओं तथा भावों के साथ-साथ युग के विचारों का भी कलात्मक प्रतिनिधित्व हुआ है। सम्भव है कि आज से सौ वर्ष बाद कामायनी के दार्शनिक विचार उस युग के लिये अनुकूल न ठहरें, पर उसकी संवेदना और भाव तब भी उस युग को प्रभावित करते रहेंगे।

मनुष्य के परिवेश को यदि हम दो भागों में विभाजित करें तो एक को मानसिक कह सकते हैं और दूसरे को भौतिक। मानसिक परिवेश का निर्माण उन तत्त्वों के द्वारा होता है जिनका अभी-अभी ऊपर उल्लेख किया गया है—संवेदना, भाव, विचार। उसका भौतिक परिवेश प्राकृतिक शक्तियों से निर्धारित होता है। इन दोनों के परस्पर संघात से मानव-जीवन का इतिहास-चक्र गतिशील होता है। हमारे जीवन में बोध-तत्त्व का निर्धारण इसी इतिहास चक्र से होता है। इस विराट् निर्माण में कल्पना बहुत सूक्ष्म रूप से कार्य करती रहती है। संवेदना, भाव, विचार तथा प्राकृतिक शक्तियों में सामञ्जस्य ढूढने का काम कल्पना का ही है। प्रकृति के रहस्यमय संकेतों में जो अर्थ भरा रहता है उसका अनुवाद हमारी भाषा में कल्पना ही करती है। तात्पर्य यह कि बोध-तत्त्व से कल्पना का बहुत गहरा, लगभग अनिवार्य-सा

सम्बन्ध है। काव्य में 'विभावों की मुख्यता' के सिद्धान्त से शुक्ल जी बोध-तत्त्व की मुख्यता की ही बात करते हैं।

वस्तुतः साहित्य में शुद्ध कल्पना बहुत दूर तक नहीं चल सकता। अनुभूति का आधार अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना कल्पना की सत्ता ही नहीं है। व्यापक अनुभूतियों वाला कवि ही विराट् कल्पना को जन्म दे सकता है। कम समृद्ध अनुभूतियों वाला कवि बौद्धिक कल्पना का पल्ला पकड़ता है और यमक, श्लेष, अतिशयोक्ति, दृष्टकूट, प्रहेलिका आदि का निर्माण करता है। कोलरिज ने कहा था कि बड़ा विचार बड़ी अनुभूति से ही पैदा हो सकता है। यह बात कल्पना के सम्बन्ध में भी सोलहो आने सच है।

कल्पना अनुभूत विषयो से काव्यात्मक मर्मच्छवियों का सचयन करती है। बिना रूपविधान अथवा मूर्त्तिविधान के काव्य में व्यक्त भावों का पूरी तरह ग्रहण सभव नहीं हैं। कल्पना मासल चित्रों की योजना अनुभूति के सहारे ही करती है। बाह्य यथार्थ के साथ जब तक हमारा घना परिचय न होगा तब तक कल्पना को जीवनी-शक्ति, रग, रूप, स्पर्श, गध आदि ही नहीं मिलेगी और बिना जीवनी-शक्ति के वह ऐसे श्रेष्ठ चित्रों की योजना नहीं कर सकती—

उड़ गया अचानक लो भूधर,<br>
फड़का अपार पारद के पर,<br>
रव-शेष रह गये हैं निर्झर !<br>
है फूट पड़ा भू पर अम्बर !<br>
धँस गये धार में समयशाल।<br>
उठ रहा धुआँ,-जल गया ताल !<br>
यों जलद-यान में विचर-विचर<br>
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल।

जब कल्पना मानव-जीवन के यथार्थ की गहराइयों में नहीं पैठ पाती तो वह बौद्धिक क्रीड़ा से अपना अभीष्ट साधन करना चाहती है। व्यापक जीवनानुभूति के अभाव में कवि कुछ विशेष चित्रों अथवा अवस्थाओं के भीतर ही बद्ध हो जाता है और उसकी कल्पना के लिये अनुभव का खुला आकाश नहीं मिलता। बौद्धिक कल्पना का चमत्कार रचना के कलापक्ष में अधिक उभरता है। उसकी सारी शक्ति शिल्प, चमत्कार तथा विचित्र रूपविधान में ही व्यय हो जाती है। केशवदास की काव्य-चातुरी के पीछे यह बौद्धिक कल्पना क्रियाशील थी। कहा जा चुका है कि बौद्धिक कल्पना की आवश्यकता तब पड़ती है जब अनुभव-क्षेत्र सकीर्ण और बोधपक्ष असतुलित हो।

बौद्धिक कल्पना का ही एक अधिक साहित्यिक रूप विदग्ध कल्पना है जो काव्य में चमत्कार, श्लेष, वक्रोक्ति आदि का निर्माण करती है। विदग्ध कल्पना के द्वारा जिस प्रकार के चमत्कार की सृष्टि होती है उसकी दो कोटियाँ हैं—

१—प्रकृत

२—अप्रकृत

प्रकृत रूप वहाँ होता है जहाँ विदग्ध कल्पना के द्वारा किसी मनोरम काव्यात्मक उद्देश्य की सिद्धि हो। प्रायः नाटकों मे इसका सौन्दर्य देखने मे आता है। हास्य, व्यग्य, अन्योक्ति, वक्रोक्ति आदि की योजना में विदग्ध कल्पना का ही उपयोग होता है। 'भ्रमर गीत' में विदग्ध कल्पना अपने उत्कृष्टतम रूप मे पाई जाती है।

अप्रकृत चमत्कार की सृष्टि कम प्रतिभा वाले कवि का काम है। यमक, श्लेष, नाद व्यजना, वस्तुपरिगणन, मुद्रालकार इसी अप्रकृत रूप के उदाहरण है। होता यह है कि ऐसे प्रसगो मे श्रोता या पाठक का ध्यान वक्तव्य विषय से हटकर वक्ता की कला-चातुरी पर जा टिकता है। एक रससिद्ध कवि विदग्ध कल्पना के सहारे पाठक को काव्य के मर्मस्थल तक ले जाकर छोड़ देगा और चमत्कारप्रिय कवि उसे अप्रस्तुतों के गहन साध्य-कातार में भटकाता रहेगा। अप्रस्तुतों की भरमार बोधपक्ष की क्षीणता का ही द्योतक है।

बोध-तत्त्व की व्याख्या की जा चुकी है। प्रश्न हो सकता है कि बोध-तत्त्व इतना आवश्यक क्यों है? इसका कारण यही है कि जिसे हम रागतत्त्व कहते हैं वह बोधतत्त्व के द्वारा ही लक्षित होता है। यदि बोधतत्त्व व्यापक है अर्थात् लेखक का वस्तु परिचय गहरा और घनिष्ठ है तो उसका रागतत्त्व भी व्यापक, गहरा और घनिष्ठ होगा। सूर और तुलसी का अन्तर वस्तुतः बोधतत्त्व की व्यापकता के पारस्परिक अनुपात का अंतर है। कल्पना का मुख्य कार्य, रोमान्टिक कवियों के अनुसार, सौन्दर्य-चयन है। सौन्दर्य वस्तु का गुण है अर्थात् उसकी स्थिति बोधतत्त्व मे होती है। वस्तु का विस्तार हमारी वैयक्तिक सीमाओं से बहुत अधिक होता है। अतः सौदर्यचयन में विविधता तथा नवीनता लाने के लिये वस्तु परिचय का विस्तार आवश्यक है। वस्तु-ज्ञान के विस्तार का अर्थ है अनुभूतियों का विस्तार। अनुभूति कल्पना को विस्तार देती है और अनुभूति-प्रेरित कल्पना काव्य को।

बोध-तत्त्व की सम्बद्धता में ही राग-तत्त्व की अभिव्यक्ति सम्भव है। इस बात को कल्पनावादी भी स्वीकार करते हैं। सबसे बड़े कल्पना के समर्थक कवि ब्लेक की भी धारणा थी कि अपनी सूक्ष्म और अस्पष्ट भावनाओं को प्रेषित

करने के लिये बाह्य यथार्थ का आश्रय अनिवार्य है। बोध-तत्त्व ही वह आधार है जिसकी समीक्षा से हम एक युग से दूसरे युग की निर्माण-चेतना को अलगा पाते हैं। राग-तत्त्व में इतना शीघ्र अन्तर नहीं आता, उसकी धुँधली अर्थच्छाायाओं में परिवर्तन हो सकता है। बोध-तत्त्व का निर्धारण किस प्रकार हो इसके सम्बन्ध में आलोचकों में बड़ा मतभेद है। पर सामान्यतः यह माना जाता है कि किसी युग की सास्कृतिक मान्यताओं तथा मूल्यों से ही उसके बोध-तत्त्व का निर्धारण हो सकता है।

किसी युग में युद्ध के मैदान में बढ़ती हुई सेना तथा घोड़ों, हाथियों के वर्णन के साथ उनकी विशेषताओं का वर्णन भी आवश्यक था। यह उस युग की सास्कृतिक मान्यता थी। पर आज यदि कोई कवि गत महायुद्ध के सम्बन्ध में कोई काव्य लिखेगा तो वह आपात दृश्यमान वस्तुओं के वर्णन में न जाकर युद्ध के गहरे और दूरव्यापी प्रभावों तक ही अपने को सीमित रखेगा। यह इस वैज्ञानिक युग की विशेष मान्यता है। फिर साहित्य में कारण का उतना महत्त्व नहीं होता जितना कार्य का। कवि की कल्पना को सूक्ष्म कार्य व्यापार के ब्यौरे में जाना चाहिये, न कि कारणों की गणना में। कल्पना का उत्तम उपयोग प्रभाव-सृष्टि में होता है, कार्यकारण-शृङ्खला के निर्माण में नहीं।

साहित्य में वस्तु का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं होता। वह एक सवेदनशील हृदय से छनकर आती है। कवि का परिवेश उसकी रचनाप्रक्रिया को प्रभावित अवश्य करता है, पर वह रचना में ज्यों का त्यों नहीं उतर आता। उसे कवि की अनुभूति का अग बनना पड़ता है और तब कहीं कला में उसकी अभिव्यक्ति सभव हो पाती है। तात्पर्य यह है कि काव्य में परिवेश नहीं व्यक्त होता, परिवेश और मानव का सम्बन्ध व्यक्त होता है। कल्पना, उत्सुकता और कुतूहल के द्वारा इस सम्बन्ध को दृढ़ भी करती है और रूपायित भी। आई० ए० रिचर्ड्स ने इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है—

'प्रकृति की ओर से प्राप्त इगितों पर मनुष्य का मन जिस वृत्ति के द्वारा पर्युत्सुक हो उठता है उसे कल्पना कहते हैं'[१]।'

इस कथन से स्पष्ट है कि कल्पना की सत्ता 'अनन्त मन' में नहीं होती, प्रत्युत् मन और बाह्य यथार्थ (प्रकृति) के सम्बन्धों मे होती है, अर्थात् कल्पना की उत्पत्ति एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होती है। साहित्य में जिस सत्य की अभिव्यक्ति होती है वह इसी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से आता है। इसीलिये

---

[१] Imagination comes from the mind's response to nature, 'Coleridge on Imagination'—P. 127.

कोई कलाकृति प्रत्यक्ष वस्तु से अधिक प्रभावित करती है। एक कवि या लेखक अपने अनुभव-खण्डों को सँजो कर ऐसा कलात्मक रूप देता है कि उसमें हमें प्रत्यक्ष वस्तु के सौन्दर्य से कुछ अधिक दीखने लग जाता है। यह 'कुछ अधिक' अनुभव खण्डों के कलात्मक संगठन का प्रसाद है। यह कलात्मक संगठन हमारी इच्छा, आकांक्षा, रुचि तथा सांस्कृतिक बनावट पर निर्भर करता है। एक सप्राण कलाकृति में यह संगठन अधिकाधिक वस्तुस्पन्दन के निकट होता है। एक साहित्यिक रचना के भीतर हम वस्तु की व्यवस्था ( आर्डर ) नहीं ढूँढ़ते, उसकी लय ( रिद्म) ढूँढ़ते हैं।

अब एक प्रश्न और रह जाता है, जिसका सम्बन्ध हमारे प्राचीन इतिहास से है। मान लीजिये कोई कवि मौर्यकाल के सम्बन्ध में एक काव्य लिखना चाहता है। उसने नालंदा और वैशाली के भग्नावशेष देखे हैं और वह उनके आधार पर एक नई कलात्मक सृष्टि खड़ा करना चाहता है। जिज्ञासा हो सकती है कि उसकी कल्पना वर्तमान से इतनी दूर जाकर कौन-सा सत्य खोजना चाहती है? क्या उन ईंटों और पत्थरों से उसे कोई विशेष मोह होता है? अवश्य होता है, पर उस मोह या ममता का कारण उसके भीतर छिपा रहता है। हम इसलिये उसके प्रति उत्सुक और ममताशील होते हैं कि कहीं न कहीं हम उसमें अपने वर्तमान जीवन-प्रवाह का मूल उत्स पाते हैं। वस्तुतः वह परम्परागत जीवन-प्रवाह का एक ऐसा सैकत-तट है जिसे छोड़कर धारा कुछ दूर आगे बढ़ गई है। उसके प्रति हमारी ममता का अर्थ है सम्पूर्ण जीवन-प्रवाह के नैरन्तर्य के प्रति आस्था जिसके मध्य विन्दु हम हैं और जिसका अन्तिम छोर ( यदि कोई छोर है तो! ) विशाल भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है। एक सफल कृति के द्वारा कवि इस 'मध्य विन्दु' के स्तर पर से एक ओर सुदूर अतीत की सीमाओं को छूता है और दूसरी ओर अज्ञात अनागत को भी अपने कल्पना-पाश में बाँध लेता है।

भावनाओं का यथार्थ के साथ वही सम्बन्ध होता है जो स्वयं व्यक्ति का उसके घर से, उसकी पुस्तक से, उसकी पगडंडी से, उसके उस ताम्रलोहित क्षितिज से जो केवल उसकी खिड़की से दिखता है, संक्षेप में जो सम्बन्ध उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ होता है। कल्पना का भी परिवेश के साथ उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। निस्सन्देह, कल्पना की उत्पत्ति वस्तुजगत से होती है, उसका विस्तार चाहे सूक्ष्म भाव-लोक में होता हो। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, 'संसार सागर की रूप-तरंगों से ही कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों और मनोविकारों का विधान होता है।'[1]

---

१. चिन्तामणि [प्रथम भाग] रसात्मक बोध के विविध रूप—पृ० २४२।

## ५

# स्वच्छन्द कल्पना[1]

कल्पना जब अत्यधिक वैयक्तिक स्तर पर, एक भावात्मक विद्रोह के रूप में, रूढ़ि तथा परम्परा के विरुद्ध अज्ञात दिशाओं की ओर उड़ती दिखाई देती है तो वह स्वच्छन्द कल्पना कहलाती है। हिन्दी की छायावादी कविता में कल्पना का यह रूप अधिक स्पष्ट है। प्रत्येक देश के साहित्य मे जब कभी रोमान्टिक कविता का युग आया है, उसके साथ एक तीव्र विचारों का प्रवाह भी आया है। प्राय देखा गया है कि उस प्रवाह का मूल उत्स एक ऐसे सौंदर्य लोक में है जिसकी एक अस्पष्ट-सी भावना ही पाठक तक पहुँच पाई है। इस अस्पष्टता का कारण कवि की स्वच्छन्द कल्पना है, जो रोमान्टिक काव्य की मूल प्रेरक शक्ति है।

पाश्चात्य देशों में रोमान्टिक कविता का प्रवाह हमारे से लगभग एक शती पहले आ गया था। अंग्रेजी साहित्य मे उसका प्रसार फ्रास की राज्य-क्रान्ति के बाद या साथ ही साथ हुआ था। उसमें औद्योगिक क्रान्ति की धारा भी मिल गई थी। अतः स्वभावत' उस युग की कविता में एक ओजस्विनी शक्ति और अभूतपूर्व नवीनता थी। इस ओजस्विता तथा नवीनता के मूल में जो प्रमुख तत्त्व था उसे उस काल के विचारकों ने कल्पना (इमैजिनेशन) का नाम दिया है। हिन्दी की छायावादी कविता में भी कल्पना का सर्वाधिक महत्त्व है, इस बात को स्वय छायावादी कवियों ने भी माना है और उसके आलोचकों ने भी।

कल्पना पर इस आत्यन्तिक आस्था का कारण क्या है ? पहले कभी उसे इतना महत्त्व क्यों नहीं दिया गया, रोमाटिक कविता में ही उसे इतना गौरव क्यों मिला ? इसका उत्तर हमें तत्कालीन सामाजिक अवस्था में ढूँढना होगा। पाश्चात्य देशों में उपर्युक्त सामाजिक क्रान्तियो के बाद जो एक नवीन चेतना की लहर आई उसने जैसे झकझोर कर व्यक्ति को भावनाओं की तन्द्रा से जगा दिया। मानव स्वातंत्र्य का एक नया क्षितिज उभर कर सामने आ गया। प्राचीन रूढियों की वेड़ी अनायास ही टूटने लग गई। विज्ञान उस युग के साथ था, बल्कि क्रियाशीलता में आगे था। चूँकि वह नया मानव-सहचर बनकर आया था अत उसकी शक्ति के प्रति उस युग की आस्था स्वाभाविक थी। यद्यपि कहीं-कहीं कुतूहल और सदेह का भाव भी देखा गया, पर वह

---

१—Romantic Imagination.

युग की सहज प्रतिक्रिया न थी। उस युग के मनुष्य के आगे संभावना का अनन्त आकाश था। इसी को वे 'कल्पना' कहते थे।

इस प्रकार वे दुहरी शक्ति से समन्वित थे। उनका बहिर्जगत विज्ञान से प्रेरित और अनुशासित होता था और अन्तर्जगत कल्पना से। वे बड़ी सरलता से अनुमान लगा सकते थे कि मानवीय शक्ति अपने अज्ञात भविष्य को जो आकार देने जा रही है उसका क्या स्वरूप होगा। वे बड़ी आसानी से इस बात का पता लगा सकते थे कि मानवीय इतिहास का आदिम युग कैसा था। फलतः उन्होंने अनागत और अतीत-दोनों को एक नयी दृष्टि से देखा। यहाँ तक कि अपने वर्तमान को भी बिल्कुल वैसा ही नहीं देखा जैसा वह था, उन्होंने उससे अधिक, उससे परे कुछ देखने की कोशिश की। परन्तु इन सभी प्रयत्नों में उनके हाथ से सूक्ष्म ऐतिहासिक चेतना का सूत्र कदाचित् ही कभी छूटा हो।

अंग्रेजी कविता में इस स्वच्छन्द धारा का प्रारम्भ ब्लेक के साथ माना जाता है। ब्लेक ने कल्पना को ईश्वर स्वरूप माना है। कल्पना उसके निकट एक आध्यात्मिक वस्तु थी। कोलरिज के विचारों का उल्लेख किया जा चुका है। उसने भी कल्पना को ईश्वर की सहायिकाशक्ति के रूप में देखा है—

'कल्पना ईश्वर के निर्माण में योग देती है।'[१]

कोलरिज की यह परिभाषा रोमान्टिक कवियों की ढाल थी कि 'मेरी समझ में प्राथमिक कल्पना एक जीवन्त शक्ति है और मानव के ऐन्द्रियबोध में सहायक होती है।' "कल्पना 'ससीम मन' में 'असीम ब्रह्म' के अनन्त सृष्टि क्रम की आवृत्ति है।" कोलरिज जर्मन दार्शनिकों से प्रभावित था। अतः उसकी कल्पना सम्बन्धी धारणा आत्मतत्व पर आधारित थी। ब्लेक और कोलरिज दोनों ही लॉक की इस स्थापना के विरुद्ध थे कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ही सबसे बड़ा ज्ञान है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से आज हम ब्लेक और कोलरिज के कल्पना सम्बन्धी सिद्धान्तों की यही व्याख्या कर सकते हैं, कि उन्होंने कल्पना को इतना अधिक महत्त्व देकर वस्तुतः व्यक्ति की रचनात्मक संभावनाओं को ही महत्त्व दिया। उनकी इन स्थापनाओं के पीछे कहीं यह धारणा काम कर रही थी कि जो कुछ ईश्वर कर सकता है उसे कला के स्तर पर मनुष्य की कल्पना भी कर सकती है। उनकी कल्पना की व्याख्या मानव की महत्ता की व्याख्या थी।

बायरन को छोड़कर प्रायः सभी बड़े रोमान्टिक कवियों ने कल्पना के इस

---

१—Imagination partakes the act of God.

—Romantic Imagination P. 10

महत्त्व को असंदिग्ध माना। हिन्दी की छायावादी कविता में भी यह महत्त्व सुरक्षित रहा। यद्यपि छायावादी कवियों ने ब्लेक और कोलरिज की तरह अपने कल्पना सम्बन्धी मत की स्थापना में अलग से कुछ लिखने की आवश्यकता न समझी, परन्तु उनकी रचनाओं में कल्पना का उल्लेख बार-बार मिलता है। वे उसको काव्य और मानव-जीवन की मौलिक शक्ति के रूप में पूजते हैं। वह केवल काव्य की ही नहीं, मानव मात्र की मूल प्रेरक शक्ति है। प्रसाद जी ने कल्पना की इस शक्ति को अपने आरम्भिक काल में ही पहचान लिया था—

हे, कल्पना सुखदान,
तुम मनुज जीवनदान,
तुम विशद व्योम समान !

इन पंक्तियों से तीन बातों का पता चलता है। पहली यह कि कल्पना सुखदायिनी होती है। वह हमारे भौतिक दुःखों से हमें मुक्ति दिलाती है। यद्यपि इन पक्तियों से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह कैसे और किस प्रकार का सुख हमें देती है, पर छायावादी कविताओं के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके सुख की स्थिति एक ऐसे अज्ञात और अस्पष्ट सौन्दर्य लोक में होती है जहाँ तक पहुँचने का साधन केवल मात्र कल्पना है। प्रसाद जी ने 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' में 'नाविक' शब्द से, जिस अज्ञात शक्ति को सम्बोधित किया है वह वस्तुतः कल्पना ही है। 'चेतना' अथवा 'सवेदना' के द्वारा जीवन में जो कटुता आ जाती है उससे मुक्ति दिलाने का काम कल्पना ही करती है। चाहे उस मुक्ति का सुख क्षणिक ही हो—

हृदय काल्पनिक विजय में सुखी,
चेतनता नस नस में !

प्रसाद जी की कल्पना-सम्बन्धी दूसरी धारणा यह है कि वह 'मनुज जीवनदान है' अर्थात् वह प्राणशक्ति मानव को फिर से जीवन देने में समर्थ है। प्रसाद जी की यह स्थापना अधिक महत्त्वपूर्ण है। कोलरिज की भी यही धारणा थी कि यह प्रत्यक्ष जगत निष्क्रिय और जीवन शून्य है। उसमें रचनात्मिका शक्ति का नितान्त अभाव है। कल्पना उसमें जीवन की आग और सृजन की प्रेरणा जगाती है। यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि कल्पना सृजनात्मक शक्ति की प्रतीक है। वह एक ओर हमारी कुंठित सौन्दर्य-चेतना को जाग्रत करती है और दूसरी ओर हमारे भीतर सृजनात्मक शक्ति का सचार

करती है। यही नहीं, वस्तु जगत में भी जो अनन्त सृजन की प्रेरणा पाई जाती है वह कल्पना का ही प्रसाद है।

प्रसाद जी की कल्पना सम्बन्धी तीसरी धारणा कल्पना की व्यापकता के सम्बन्ध में हैं। 'तुम विशद व्योम समान' के द्वारा वे वस्तुतः कल्पना की अनन्त सृजनात्मिका शक्ति की ओर ही संकेत करते हैं।

निराला जी ने अपने काव्य की वाणी का आह्वान इन शब्दों में किया था—

कल्पना के कानन की रानी !
आओ, आओ, मृदुपद, मेरे
मानस की कुसुमित वाणी !

— —

मार्ग मनोहर हो मेरे जीवन का,
खुल जाये पथ रुंधा कंटक वन का,
धुल जाये मल मेरे तन का, मन का,
देख तुम्हारी मूर्ति मनोहर—
रहे ताकते रानी !

किसी भी अन्य युग के कवि ने कविता को 'कल्पना के कानन की रानी' नहीं कहा है। अतः निराला का यह सम्बोधन साभिप्राय समझना चाहिये। यह तत्कालीन काव्य प्रवृत्ति का सूचक है। विज्ञान के हाथों में जो शक्ति विद्युत प्रयोग के द्वारा आई थी, छायावादी कवि उसे कल्पना के माध्यम से पाना चाहता था। उसके मार्ग की समस्त बाधायें कल्पना दूर कर सकती थी। बाह्य यथार्थ के निरीक्षण-परीक्षण अथवा अनन्त की साधना के द्वारा जिस उच्चतर ज्ञान की प्राप्ति होती है, कल्पनाप्रदत्त ज्ञान का स्थान उससे ऊँचा है। निराला की एक पंक्ति जाने-अनजाने वर्ड्सवर्थ की इस स्थापना में मेल खाती है कि—

'भाव प्रेरित अतर्दृष्टि स्वतः बौद्धिक होती है।'†

इस कथन से निराला की यह पंक्ति मिलाकर देखिये—

देख तुम्हारा रूप मनोहर,
रहें ताकते रानी !

पंत जी ने कल्पना को अधिक कोमल और भावनामय रूप में देखा है। यही नहीं, पंत जी के लिये कल्पना ही वह मर्मस्थल है जहाँ वेदना की अनुभूति होती है—

---

†—Inspired insight is itself rational.
सी० एम० बावरा द्वारा उद्धृत 'रोमान्टिक इमैजिनेशन' पृ० १२।

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या।कहीं अवसान है !

'अश्रु' और शून्य आहों के साथ 'कल्पना' का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। यहाँ 'अश्रु' और 'शून्य आहों' की तरह कल्पना से भी अभाव ही व्यजित होता है। छायावादी कल्पना की यह अपनी विशेषता है। वह मुक्त उड़ानें तो भरती है पर उसके भीतर यथार्थ जीवन की वेदना भी कसकती रहती है। वह केवल 'सुख से आविल' ही नहीं, 'दुख से पंकिल' भी है। पर जब पत जी अनुनय के साथ कहते हैं—

अहो, कल्पनामय फिर रच दो वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के दूध से धुली मृदु मुसकान,

तो वे अपने भारतीय रूप में महान कल्पनावादी कवि विलियम ब्लेक के 'भोलेपन के गीत' ( साग्स आव इन्नोसेंस ) को ही प्रतिध्वनित करते हैं। ब्लेक के निकट तो कल्पना के बिना काव्य का कहीं अस्तित्व ही नहीं है। रोमान्टिक ब्लेक के लिये कल्पना वह अभूतपूर्व शक्ति है जिसके द्वारा कवि—

एक रेत के कण में पूरे विश्व को,
और एक जङ्गली फूल में समस्त स्वर्ग को देख लेता है,
अपनी नन्हीं हथेलियों में असीम को,
और एक घण्टे के वृत्त में सम्पूर्ण अनन्त को बाँध लेता है।

यह तथ्य आकस्मिक नहीं माना जा सकता कि देश-विदेश के सभी रोमान्टिक कवियों ने कल्पना का महिमागान किया है। यह उनकी और उनके युग की मुख्य प्रवृत्ति को सूचित करता है और पिछले युगों के काव्य से रोमांटिक कविता को अलग करता है। गहरे उतर कर देखा जाय तो पता चलेगा कि इन कवियों ने 'कल्पना' शब्द से जो अर्थ ग्रहण किया, वह लोक में प्रचलित अर्थ से कुछ अधिक था। सामान्यतः उनके द्वारा गृहीत अर्थ में वह सब कुछ आ जाता है जो काव्य और जीवन को सुन्दर, आकर्षक, विराट्, रहस्यमय और महिमामय बनाता है। वस्तुतः 'कल्पना' शब्द से वे उस अज्ञात शक्ति को व्यजित करना चाहते थे जो कला की मूल प्रेरणा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्थित रहती है। जो वस्तु सबस सुन्दर दिखी, वह उनके लिये 'कल्पना' थी। जो सत्य उन्हें सबसे अधिक रहस्यमय दीख पड़ा, उसे उन्होंने 'कल्पना' का नाम दिया। नक्षत्र, निर्झर, गिरिशिखर, समुद्र, लहर, आकाश, यहाँ तक कि नारी भी उन्हें कल्पनामय दिखी।

स्वच्छन्द कल्पना की विशेषताओं की खोज के लिये हमें छायावाद की विविध भावभूमियों का निरीक्षण करना होगा। छायावादी कविताओं का सबसे प्रिय विषय है प्रकृति। प्रकृति में भी उसका सम्पूर्ण रूप-समार उन्हें प्रिय न था। केवल कोमल रमणीय, आकर्षक और महनीय रूपों का ही उन्होंने आकलन किया। इसीलिये प्रभात, संध्या, निशीथ, तुहिनकण, मधुप-गुंजार, दुर्दम उदग्रशिर आद्रिशिखर, वाताहत समुद्र, अपने निस्सग सुख में विलीन शुक्रतारा, परिमल घन-सी चांदनी, लघुसुरधनु-से पंख पसारे खग, आदि चित्रों की योजना ही उनकी कविताओं में अधिक मिलती है। नारी के प्रति छायावादी कवियों के दृष्टिकोण के निर्माण में स्वच्छन्द कल्पना का सबसे अधिक योग है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग-पग-तल में

अथवा—

अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की संधान!
स्वप्नमयि, हे मायामयि!

या फिर रवीन्द्र नाथ की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ—

नह माता, नह कन्या, नह वधू, सुन्दरी रूपसी,
हे नन्दनवासिनी उर्वशी।
गोष्ठे जब सन्ध्या नामे श्रान्त देहे स्वर्णांचल टानि,
तुमि कोनो गृहप्रान्ते नाहि ज्वाल सन्ध्यादीपखानि,
द्विधाय जड़ित पदे, कम्पवक्षे नम्रनेत्रपाते,
स्मित हास्ये नाहि चल सलज्जित वासर सज्जाते,
स्तब्ध अर्धराते,
उषार उदय सम अनवगुंठिता
तुमि अकुंठिता।†

इन सभी कविताओं में नारी को महिमान्वित करके दिखाने का प्रयत्न स्पष्ट है। इसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि में सौन्दर्य केवल उतना ही नहीं है जितना हम देखते हैं। वह उससे अतिरिक्त भी कुछ है। वह नारी.

---

†—न मां, न कन्या, न वधू, सुन्दरी, रूपसी, हे नन्दनवासिनी उर्वशी। थकी सी संध्या जब स्वर्णांचल नीचे कर झुक जाती है, तब तुम किसी गृहप्रान्त में दीपक नहीं जलाती। न तुम द्विधा-जड़ित चरणों से, कम्पित वक्ष, नम्रनेत्रपात और स्मित हास्य से युक्त होकर अर्धरात्रि में लज्जित किसी वासरशय्या के पास ही जाती हो।

स्वप्न, कल्पना, भावना—इन सबसे मिली-जुली कोई वस्तु है। यह बिल्कुल असम्भव था कि छायावादी कवि किसी भी सुन्दर वस्तु को वहीं तक देखे जहाँ तक वह दिखाई देती है। वह वहाँ तक उसे देखना चाहता था जहाँ तक उसका मनोवेग, उसकी कल्पना पहुँच सकती थी।

स्वच्छन्द कल्पना का दूसरा रूप विराट् की उपासना में देखा जाता है। हिमालय, समुद्र, बादल, महाकाल, शक्ति, शिव, आदि के सम्बन्ध में लिखी गई कवितायें इसका उदाहरण हैं। विराट् चित्रों की योजना, विराट् चरित्रों के आकलन और विराट् भावों की उपासना की प्रवृत्ति निराला में सबसे अधिक पाई जाती है। उनके बादलराग, राम की शक्ति पूजा तथा 'एक बार बस और नाच तू श्यामा' आदि कविताओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है। अन्य कवियों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम है।

स्वच्छन्द कल्पना का तीसरा रूप अतीत की ओर प्रत्यावर्तन और भविष्य के भावमय आकलन में देखा जाता है। वर्तमान से असन्तुष्ट कवि के लिये दोनों ही दिशाओं में फैलने का पूरा अवकाश है। अतीत के गाढ़ स्वप्नमय रङ्गों का उभार प्रसाद में सबसे अधिक है। उनके नाटकों में यह रग और भी स्पष्ट है।

कामायनी तथा 'प्रलय की छाया' आदि कृतियों में भी अतीत के मादक सौरभ से सिक्त जीवन-क्षणों की प्रधानता है। भविष्य कल्पना की दृष्टि से पत जी की रचनायें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। छायावादी कवि की भविष्य कल्पना का आधार एक आदर्श सौन्दर्य लोक होता है, जिसमें सुख-दुख आपस में बँटकर सम हो जाते हैं और जीवन के छल-छद्म निर्बाध सुख और आनन्द में परिवर्तित हो जाते हैं। यह कल्पना बहुत कुछ रामराज्य अथवा 'युटोपिया' की तरह है जिसकी नींव सहज भावुकता और विराट् मानववाद में होती है। पन्त जी की ज्योत्स्ना इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, जिसमें पवन और सुरभि के सयोग से एक आदर्श मानव जीवन की कल्पना की गई है। वस्तुतः ये दोनों ही वृत्तियाँ, अतीत की ओर प्रत्यावर्तन और भविष्य की स्वर्णिम कल्पना, पुनर्जागरण काल की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोनों ही प्रवृत्तियों की सीमा यह है कि इनमें स्वच्छन्द कल्पना प्राय परिवेशगत वास्तविकता का अति-क्रमण करके अतीत के धुँधले सपनों और भविष्य के सुनहले भावना-लोक में ही भटकती रह जाती है। वह न तो अतीत को वर्तमान से जोड़ पाती है, न वर्तमान को अतीत से। कल्पना अपने सर्वोत्तम कार्य, ऐक्य विधान, में

---

तुम उषा के समान अनवगुंठित और अकुंठित हो।
—'उर्वशी'—'चित्रा' से।

वहाँ चूक जाती है। क्रिस्टोफर काडवेल ने रामराज्य की रोमाटिक कल्पना के सम्बन्ध में कहीं कहा है कि जब एक रोमाटिक कवि भविष्य की भावुकतापूर्ण कल्पना करता है तो वह 'भावी की सम्पन्नता में वर्तमान की विपन्नता का ही प्रक्षेपण करता है।'

प्रश्न हो सकता है कि छायावादी कवि अपने वर्तमान से असन्तुष्ट था तो क्यों ? ऐतिहासिक दृष्टि से इसका विवेचन इस प्रकार हो सकता है कि छायावादी कवि के निकट उसका अभीष्ट जगत अधूरा था। परिणामतः उसे पूर्ण बनाने के लिये उन्हें कल्पना का सहारा लेना पड़ा। कल्पना वर्तमान की लपटों मे उड़ नहीं सकती थी, अतः उसे नये आकाश की खोज करनी पड़ी। यह आकाश अतीत और भविष्य में मिला, स्वप्न और सम्भावना में मिला। छायावादी कवि सौन्दर्य प्रेमी थे और इसके विपरीत उनका संसार वेदना से पंकिल और दुख से जर्जर था। भौतिक विकास की सम्भावनाओं के द्वार पर विदेशी सत्ता की चट्टान रखी हुई थी। छायावादी कवि को इस पत्थर को तोड़ने वाली भुजाओं के दर्शन बहुत बाद में हुए—सन् छत्तीस के आसपास। अपने जीवन के आरम्भिक काल मे वह प्रकृति पर भावना का आरोप करता था, यौवन के मध्याह्न मे आकर प्रकृति के अतिरिक्त देशकाल के अन्य क्षेत्रों पर भी उसने अपनी भावना को आरोपित किया। इस प्रकार उसने क्षतिपूर्ति का एक सरल मार्ग निकाल लिया। इसमें संदेह नहीं कि सरल मार्ग कभी भी प्रशस्त मार्ग नहीं होता, पर छायावाद के विकासक्रम की यह एक अनिवार्य कड़ी थी—इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। छायावादी कवि ने प्रस्तुत यथार्थ मे अपने मन का सौन्दर्य जोड़ा और इस प्रकार उसे अपने आदर्श के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को यथार्थ के प्रति उनकी मौलिक देन मानकर ही हम उनके साथ न्याय कर सकते हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा बच्चन आदि की बहुत-सी ऐसी रचनाओं का महत्त्व स्पष्ट हो जायेगा जिन्हें कुछ आलोचकों ने प्रतिगामी या पलायनवादी कहा है। इन कवियों की उड़ान मे जीवन के प्रति एक व्यापक परन्तु अस्पष्ट स्वीकार का भाव था। छायावाद कला का पुजारी था। उसके लिये यह सम्भव ही नहीं था कि वह बाह्य यथार्थ को अनगढ़ और अपरिष्कृत रूप मे कला मे उतार दे। अपनी भावना के अनुरूप उसने अपने युग की वास्तविकता को कुछ इस प्रकार से रूपायित किया कि पाठक की परिचित दृष्टि उससे चमत्कृत हो गई। व्यवहार मे भी प्रायः ऐसा होता है—कोई वस्तु असुन्दर है, हम उसे झाड़-पोंछ कर दूसरों के सामने रखते हैं। यदि वह खंडित और अधूरी है तो उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़कर उसे पूर्णता

देने का प्रयत्न करते हैं। इसी अर्थ में कोई रचना मौलिक होती है और निस्सदेह किसी भी रचना को मौलिक बनाने में कल्पना का सबसे अधिक योग होता है। इसी अर्थ में कोई सफल रचना यथार्थ को सम्पन्न बनाती है, क्योंकि डायलन टामस के अनुसार

'एक सफल रचना यथार्थ के प्रति कवि की मौलिक देन है।'*

इसी दृष्टि से प्राचीन पुराण-कथाओं का भी महत्त्व आका जा सकता है। बहुत दिनों तक उनको सर्वथा काल्पनिक और असत्य कहकर वैज्ञानिक सत्य के दायरे से बाहर रक्खा गया है। पर आज उनके महत्त्व को स्वय विज्ञान भी आस्थापूर्वक स्वीकार करता है। जिस युग की कल्पना जितनी ही समर्थ और शक्तिशालिनी होगी वह युग उतने ही विराट् चरित्रों और यथार्थ के नवीन प्रतिमानों का निर्माण कर सकेगा। सुप्रसिद्ध अगरेज कवि जान कीट्स ने एक बार अपने युग की कल्पनाशक्ति के सकोच पर दुःख प्रकट करते हुए निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं[१]—

क्या आज मानवशक्ति के शिखर इतने छोटे हैं
कि कल्पना स्वतत्रतापूर्वक उड़ भी नहीं सकती ?
प्राचीनों के साथ तो ऐसा नहीं था !
उनकी कल्पना तेज़ प्रकाश के विरुद्ध
अपने पजों के बल चढ़ सकती थी,
बादलों के ऊपर रगे बिरगे चित्रों की सृष्टि कर सकती थी !
क्या उसने हमें भी ये तमाम वस्तुयें नहीं दिखाई हैं ?

कीट्स ने यहाँ जिन प्राचीनों की ओर सकेत किया है वे निश्चित रूप से आदिम मानव ही हैं, जो स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी कल्पना का उपयोग कर सकते थे। वे बड़ी सरलता से कल्पना कर सकते थे कि किसी अज्ञात पर्वत की चोटी पर एक ऐसी नारी स्थित है जिसके सम्पूर्ण अग तो सिहनी के हैं, केवल मुख-मडल मानवी का है। निश्चय ही हमारा युग इतना आगे बढ़ चुका है कि

---

*—A good poem is a contribution to reality
—Dylan Thomas Encounter 'June 1953

१ Is there so small a range
In the present strength of manhood, that the high
Imagination cannot freely fly !
As she was wont of old ? prepare her steeds

इस प्रकार की कल्पनायें आज सम्भव नहीं। छायावादी कवियों की कल्पना ने भी यथार्थ के तीव्र प्रकाश के विरुद्ध अपने पंजों के बल चढ़ने का प्रयत्न अवश्य किया, पर वह उसकी चकाचौंध से घबरा कर उतनी दूर न जा सकी जितनी दूर तक आदिम मानव की कल्पना जा सकती थी। अधिक-से-अधिक उसने अतीत और भविष्य की मोहक भावनाओं और वर्तमान के सुन्दर, विराट् तथा आदर्श रूपों तक ही अपने को सीमित रक्खा।

---

Paw up against the light and do strange deeds
Upon the clouds! Has she not shown us all!

— Sleep and poetry.

# ६

# मध्ययुगीन कल्पना और आधुनिक कल्पना

आधुनिक कल्पना की विशेषताओं का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ हम मध्ययुगीन कवियों की कल्पना से उसकी तुलना करके देखेंगे कि दोनों में कहाँ और कितना अन्तर है। कल्पना सम्बन्धी पाश्चात्य विचारधारा के प्रवाह में हाब्स और कोलरिज आदि के सिद्धान्तों के अन्तर को हम देख चुके हैं। दोनों क्रम से मध्य और आधुनिक युग के प्रतिनिधि विचारक थे। हाब्स कल्पना को एक घातक शक्ति मानता था और उसका दृढ़ मत था कि काव्य में उसका स्थान शृंगार के साधन एकत्र करने वाली दासी से अधिक नहीं है। कोलरिज ने इसके ठीक विपरीत कल्पना को ही काव्य का सब कुछ माना।

जाने-अनजाने पूरे मध्यकाल के साहित्य में विवेक का स्थान अन्यतम रहा है। अपने यहाँ कल्पना सम्बन्धी विचार ही नहीं हुआ। इसीलिये अलग से विवेक के महत्त्व की चर्चा नहीं हुई। पर हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि मध्ययुगीन विचाराधारा को जिस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया था वह धर्म या विवेक था। धर्म भी ऐसा नहीं था जो आदिम कुतूहल और जिज्ञासा के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो। वह ऐसा धर्म था जिसका रूप स्थिर हो चुका था, स्मृतियों, पुराणों और महाकाव्यों ने जिसकी सीमायें निश्चित कर दी थीं। प्रश्न हो सकता है कि रीतिकाल में यह विवेक कहाँ था ? वस्तुतः रीतिकालीन साहित्य में विवेक की धारणा स्थानान्तरित हो गई थी। पहले वह युग और जीवन का नियामक था, अब केवल मात्र काव्य का और काव्य में भी अप्रस्तुत विधान, वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य और चमत्कार का साधक रह गया था। विवेक की इस प्रधानता के मूल में उस युग के व्यक्ति की सामाजिक स्थिति थी। मध्ययुगीन मनुष्य परम्परा में दृढ़ आस्था रखता था, दैव में उसका घना विश्वास था, मानवीय शक्ति उसकी दृष्टि में सीमित थी। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से वह या तो ऊपर था या उसी में डूबा हुआ था। कल्पना के स्वच्छन्द प्रसार की दृष्टि से दोनों ही दशायें एक सी थीं। कुतूहल, जिज्ञासा, रहस्यभावना के जाग्रत होने के लिये वहाँ अवकाश न था।

क्या भक्तिकाव्य में भी इस परोक्ष-जिज्ञासा का अभाव है ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं ! कबीर और जायसी इसके प्रमाण हैं। फिर उनके काव्य में कल्पना का वैसा स्वच्छंद प्रसार क्यों नहीं मिलता जैसा हम आधुनिक काल में पाते हैं ? मेरी समझ में इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उनकी परोक्षा-जिज्ञासा की भी सीमायें थीं जो वस्तुतः उनके मत और सम्प्रदाय की सीमायें थीं। उन्हें अपनी गुरु-परम्परा से ब्रह्म, माया तथा जगत के सम्बन्ध में एक बंधी-बंधाई धारणा मिल गई थी, जिसमें उन्होंने अपनी सहज भावुकता और अनुभूति को मिलाकर अधिक मधुरता और स्वाभाविकता लादी। दूसरे कारण का सम्बन्ध काव्य की परम्परागत मान्यताओं तथा रूढ़ियों से है। तब तक साहित्य में व्यक्ति की भावनाओं को उतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता था। चरित्र, कथानक, रस आदि की योजना में निश्चित नियमों से काम लेना पड़ता था। यहाँ तक कि अप्रस्तुत विधान की भी कोटियाँ निश्चित थीं। यह सच है कि भक्त और संत कवियों ने इन नियमों की उतनी परवाह नहीं की। पर फिर भी उनकी कल्पना पर सयम और विवेक का अनुशासन कभी नहीं ढीला हुआ।

इसके विपरीत आधुनिक काव्य में कल्पना पर से विवेक और तर्क का अनुशासन एक तरह से उठ सा गया है। व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये यहां पूरी स्वच्छन्दता है। आधुनिक कवि की कुतूहल वृत्ति और जिज्ञासा की भावना किसी स्वीकृति मत या सम्प्रदाय से सीमित नहीं है। जहाँ यह सीमा किसी न किसी रूप में अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है, वहाँ अन्तर्दृष्टि-प्रेरित कल्पना का प्रसार भी कम देखा जाता है जैसे महादेवी वर्मा और 'प्रसाद' की कुछ रचनाओं में।

ऊपर निरगुनियों का उल्लेख किया गया है। सगुण भक्तों के निकट जिज्ञासा की आवश्यकता ही न थी। वे अवतारों में विश्वास रखते थे। अवतारों में भी उन्होंने मानव रूपधारी चरित्रों को ही अधिक महत्त्व दिया। मत्स्य, वाराह आदि अवतारों में उन्हें अपने आदर्शों का वह दिव्य रूप नहीं दिखाई दिया जो उनके भावों का आलम्बन बन पाता। अतः उनकी कल्पना पुराणों का आधार लेकर ही विकसित हुई। उनकी कल्पना को हम 'अर्द्धपौराणिक कल्पना' कह सकते हैं। अंगरेजी में जिसे 'मिथ' कहते हैं उसका स्वतंत्र विकास इनके काव्य में न हो सका। वाल्मीकि और कालिदास तथा योरोप के होमर आदि के काव्यों में पौराणिक कल्पना अथवा 'मिथ' का जैसा प्रकृत विकास हुआ है, वैसा हिन्दी के भक्ति-काव्य में न हो सका। इसका कारण क्या है ? मेरी समझ में इसका कारण इतना ही है कि वाल्मीकि और कालिदास के युग

तक पुराणों का निर्माण जारी था, उनके विकास के तत्त्व समाप्त नहीं हो गये थे। वाल्मीकि के युग में तो पुराणों का स्वरूप ही प्रकृति के साथ घुला-मिला था। कालिदास के युग तक आते-आते पौराणिक कल्पना के स्वरूप में स्थिरता आने लगी थी। फिर भी उसमें रचनात्मक संभावनायें पर्याप्त थीं।

हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य तक आते-आते पौराणिक कल्पना की रचनात्मक सभावनायें प्रायः समाप्त हो चुकी थीं। अत' वहाँ कल्पना का स्वरूप परिपाटीविहित ही अधिक दिखाई पड़ता है। स्वच्छन्द कल्पना के लिये विवेक की अनुमति नहीं थी और पौराणिक कल्पना की सीमायें निश्चित हो चुकी थीं। उनका उद्देश्य था आदर्शचरित का बखान अथवा शृंगारिक चेष्टाओं द्वारा रस-निष्पत्ति। पहले के लिये पौराणिक कथाओं का आधार लिया गया और दूसरे के लिये अप्रस्तुत विधान का। इन दोनों प्रवृत्तियों का सम्बन्धा मध्ययुग की दो मुख्य धाराओं—भक्ति तथा रीति साहित्य से था। पहले बताया गया है कि कल्पना का सम्बन्ध विभावन व्यापार से है, भाव से नहीं। भाव को रस की स्थिति तक ले जाने में वह अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचाती है। भक्त कवियों को विभावों की योजना के लिये भटकना नहीं था। रीतिकवियों ने विभावों के सघटन पर अवश्य अतिरिक्त ध्यान दिया, पर उनकी सहायता के लिये लक्षण ग्रन्थ मौजूद थे। अतः उनकी कल्पना के लिये सरल मार्ग (शार्टकट) मिल गया। कल्पना का समुचित विकास वहाँ भी न हो सका।

आधुनिक काव्य में पौराणिक कथानकों और चरित्रों का स्थान स्वतत्र उद्भावना और व्यक्ति की महत्ता ने ही लिया। व्यक्ति की भावना का प्रसार गिने-गिनाये लक्षणों की सीमा में नहीं हो सकता था। उसके लिये अनन्त आकाश की आवश्यकता थी। छायावाद के 'अनन्त' और 'असीम' इसी आवश्यकता की पूर्ति-स्वरूप आये थे। जिज्ञासा हो सकती है कि कल्पना के इस निर्झर के स्वप्न भंग की तरह अकस्मात् फूट पड़ने का कारण क्या था? नि.सदेह इसका दायित्व विज्ञान को सौंपा जा सकता है। विज्ञान की नई-नई खोजों ने हमारी बोधवृत्ति को विकसित किया, हमारे ज्ञान के नये सीमान्त स्थापित किये, हमारे अनुभवों और आदर्शों के नये नये क्षितिज उद्घाटित किये। बोधवृत्ति के विस्तार के साथ कल्पना का विस्तृत होना सहज स्वाभाविक है। विज्ञान ने हमारी सवेदना को तीव्र किया, हमारी दबी हुई जिज्ञासाओं को उकसाय और हमारी सौन्दर्य वृत्ति को सत्य के नये-नये आयामों की खोज के लिये प्रेरित किया। परिणामस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—

१—रोमान्टिक वृत्ति

२—रहस्यवाद

३—मानव-स्वातंत्र्य की भावना

मानव-स्वातंत्र्य की भावना के भी तीन रूप पाये जाते हैं—व्यक्तिवाद, राष्ट्रीयतावाद और समाजवाद। ढूँढ़ने पर एक ही कवि में ये सभी प्रवृत्तियाँ मिल सकती हैं। इन सबके निर्माण में स्वच्छन्द कल्पना का सबसे अधिक योग है। नित नूतन होने वाले भौतिक आविष्कारों ने एक ओर जहाँ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में सोये हुए अनंत जिज्ञासा के सागर को मथ दिया वहीं दूसरी ओर उन्होंने कवियों और कलाकारों के हृदय की उन लहरों को भी उद्वेलित कर दिया, जिनमें एक मधुर स्वप्न की तरह अज्ञात की जिज्ञासा, अदृष्ट का रूपदर्शन, अनाघ्रात की गंध, अस्पृष्ट का पुलक और अनास्वादित का रसबोध सोया हुआ था। मानव-स्वातंत्र्य की भावना ने व्यक्ति की कल्पना को एक ऐसी विराट् पटभूमि दे दी जिसमें इस छोर से उस छोर तक दौड़ लगाने की पूरी छूट थी। रवीन्द्रनाथ के 'निर्झरेर स्वप्न-भंग' में मानव कल्पना की इस मुक्ति का बड़ा सुन्दर और उदात्त चित्र मिलता है—

आज ए प्रभाते रविर कर
केमन पशिलो प्रानेर पर,
केमन पशिलो गुहार आधारे प्रभात पाखिर गान!
ना जाने केन रे, एत दिन परे जागिया उठिलो प्रान!
जागिया उठिलो प्रान,
ओरे उथलि उठिलो वारि

× × ×

आमि ढालिबो करुणाधारा,
आमि भांगिबो पाषान कारा,
आमि जगत प्लाविया, बेड़ाब गाहिया,
आकुल पागल प्राण।[1]

निर्झर का यह स्वप्न उद्घोष व्यक्ति की कल्पना की मुक्ति का उद्घोष है। इसमें एक ही साथ अज्ञात की जिज्ञासा, रूढ़ियों से विद्रोह और वेदना की करुणाधारा मिली हुई है। ये तीनों ही स्वच्छन्द कल्पना की विशेषतायें हैं।

---

1. (आज इस प्रभात वेला में सूर्य किरण ने पता नहीं किस प्रकार मेरे प्राणों को छू दिया, किस प्रकार आज गुहा में सोये हुए पक्षी के गान को जगा दिया। पता नहीं किस प्रकार इतने दिनों बाद प्राण जाग उठे। प्राण जाग उठे और सोई हुई वारिधारा उद्वेलित हो उठी।...मैं करुणा की धारा बहाऊँगा, मैं पाषाण की कारा को तोड़ दूँगा, मैं जगत को प्लावित करके, गाता हुआ, पागल की तरह घूमूँगा] 'प्रभात-संगीत' से।

कुछ उदाहरणों के द्वारा दोनों युगों के इस अन्तर को समझ लिया जाय। चाँदनी एक ऐसा विषय है जिस पर सभी युगों के कवियों ने रचनायें की हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूपों में चाँदनी का प्रचुर उपयोग काव्य में हुआ है। महर्षि वाल्मीकि को पाले से धुँधली पड़ी हुई चाँदनी ऐसी दिखाई पड़ी थी जैसे धूप से साँवली पड़ी हुई सीता। महाकवि कालिदास ने शरच्चन्द्र की कोमल किरणों और बारीक मृणालसूत्रों में अत्यन्त भावमय समता की कल्पना की है। हिन्दी के प्राचीन तथा नवीन कवियों ने भी अपने युग की विशेष सौन्दर्य-दृष्टि और भावना के अनुसार चाँदनी का वर्णन किया है। यहाँ हम तीन प्राचीन तथा तीन आधुनिक कवियों का चाँदनी-वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं—

सूर—

पिया बिनु सापिन काली रात,
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति।

जायसी—

कातिक सरदचंद उजियारी।
जग सीतल, हौं बिरहे जारी॥
चौदह करा चाँद परकासा
जनहुँ जरै सब धरति अकासा।
तन मन सेज करै अगिदाहू।
सब कह चद, खण्ड मोँहि राहू॥

देव—

फटिक। सिलानि सो सुधार्‌यो सुधा मंदिर
उदधि दधि को सो अधिकाई उमगे अमंद,
बाहर तें भीतर लौं भीति न दिखैये देव
दूध कैसो फेनु फैल्यो आँगन फरसबन्द॥
× × ×
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चंद।

मध्ययुग के तीन प्रतिनिधि कवियों की चाँदनी इन पंक्तियों में चित्रित है। सूरदास के वर्णन में चाँदनी का प्रसार नहीं है, उसकी एक मार्मिक अवस्था का चित्रण भर है। कल्पना वहाँ उसके गुणधर्म के अनुकूल एक अप्रस्तुत ढूँढ लाती है, बस। यह अप्रस्तुत भी प्रस्तुत भाव को तीव्र करने के लिए

लाया गया है, वह कोई स्वतंत्र सृष्टि नहीं खड़ी करता। मध्ययुगीन कल्पना सदैव विषय का अनुवर्तन करती थी। यदि वह उड़ानें भरती भी थी तो दो-चार सदृश वस्तुओं तक। एक दम अज्ञात और अप्रत्याशित चित्रों की योजना वह नहीं करती थी। भाव की प्रेषणीयता को तीव्र बनाने वाली कोई उपमा अथवा उत्प्रेक्षा आ गई, बस मध्ययुगीन कवि का अभिप्रेत सिद्ध।

जायसी की कल्पना चाँदनी के अत्यन्त परिचित रूपों तक ही जाती है। कुछ गिनी गिनाई काव्य रूढ़ियाँ हैं जिनको संघटित करने मे कवि कल्पना को कुछ अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। चादनी शीतल है, फिर भी वह विरहिणी को ज्वाला के समान लग रही है, धरती-आकाश, तनमन सभी जल रहे हैं, जो सबके लिये चन्द्रमा है वह विरहिणी के लिये राहु हो गया है—ये सभी बातें कवि-परम्परा से गृहीत हैं। इनको सजाने, सँवारने अथवा सगठित करने मे जायसी की कल्पना किसी नूतन बिम्ब निर्माण के कार्य में प्रवृत्त नहीं होती। सहज चाँदनी के समानान्तर कवि कोई नवीन काव्यात्मक चाँदनी की सृष्टि नहीं करता।

देव की कल्पना कुछ दौड़ अवश्य लगाती है। कुछ नये सादृश्यविधान, कुछ नई मर्मच्छवियाँ और थोड़े से नये चित्रों का आकलन वह अवश्य करती है। पर कुल मिलाकर उनकी कल्पना चन्द्रमा और राधिका के बीच सादृश्य स्थापित करने तक ही अपने को सीमित रखती है। चाद को देखकर कवि को याद आता है तो राधिका का मुखमण्डल, न तो वह लम्बी सम्बन्धयोजना के द्वारा किसी प्राचीन स्मृति को ही जगाता है, न उसे इस आपात दृश्यमान सौंदर्य के भीतर किसी अन्तर्निहित सौन्दर्य सत्ता का ही आभास होता है। तात्पर्य यह कि कवि का वर्णन या तो वस्तु से बँधा हुआ चलता है, या फिर स्वच्छन्द भी होता है तो कुछ जाने-पहचाने अलंकारों तक जाता है। बस। पूरे मध्ययुग के कल्पना-व्यापार की यही दो सीमायें हैं। कल्पना वहाँ 'पुन-र्निर्माण' की ऐन्द्रजालिक क्रीड़ा नहीं करती।

उपर्युक्त तीनों चित्रों के सामने छायावादी कवियों द्वारा निर्मित चाँदनी चित्रों को रखकर देखिये—'प्रसाद' के मनु को 'इन्द्रजाल जननी रजनी' की रानी (चादनी) इस प्रकार दिखाई देती है—

> जब कामना सिन्धु तट आई,
>
> ले संध्या का तारा दीप,
>
> फाड़ सुनहली साड़ी उसकी—
>
> तू हँसती क्यों अरी प्रतीप !
>
> × × ×

## ७

# कल्पना, अंतर्दृष्टि और प्रातिभज्ञान[1]

काव्य में कल्पना का उपयोग दो तरह से होता है, पहला—जब वह रचना के रूपनिर्माण में योग देती है और दूसरा—जब वह स्वय विषय अथवा विषय की मूल प्रेरणा बनकर आती है। कल्पना का दूसरा रूप रहस्यवादी अथवा प्रतीकवादी कविताओं में देखा जाता है। ब्लेक ने कल्पना को ईश्वर स्वरूप कहकर उसकी स्वतत्र काव्यात्मक सत्ता की ओर ही सकेत किया है। एक रहस्यवादी कवि जब रचना करने बैठता है तो उसकी चेतना एक अज्ञात रहस्य-भावना से अभिभूत होती है। प्रत्येक प्रत्यक्ष वस्तु उसके निकट एक प्रतीक के रूप में होती है और उसका महत्त्व केवल इतना होता है कि वह अपनी सत्ता के द्वारा किसी महत्तर सत्य की ओर सकेत कर रही होती है। रहस्यवादी कवि के निर्माण में उसकी उपयोगिता इतनी ही होती है कि वह प्रत्यक्ष वस्तुओं के माध्यम से अपनी खोज के नवीन भावसत्यों को रूप देता है।

प्रसिद्ध अगरेज समीक्षक सी० एम० बावरा ने इस रहस्यचेतना की व्याख्या इस प्रकार की है—'जब उनकी (रहस्यवादी कवियों की) रचनात्मक प्रतिभा काव्य में प्रवृत्त होती है, उस समय वे भौतिक जगत की रहस्यात्मकता से प्रेरित होते हैं और प्रत्यक्ष वस्तु को एक विलक्षण अन्तर्दृष्टि से सिद्ध करके अपने सूक्ष्म आविष्कारों को काल्पनिक रूप देते हैं। ठीक उसी प्रकार, जैसे हमारी कल्पना जब किसी वस्तु के अनुरूप आकार ले लेती है तो हम उस भाव को प्रत्यक्ष देख सकने में समर्थ हो जाते हैं, जिसने पहले हमें चमत्कृत कर दिया था।[2]

---

१—Imagination, Insight and Intuition

२—When their creative gifts are engaged, they are inspired by their sense of mystery of things to prove it with a peculiar insight and to shape their discoveries into imaginative forms As our fancies take coherent shapes, we see more clearly what has puzzled and perplexed us —Romantic Imagination, p 11

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे कवियों के लिये प्रत्यक्षीकरण की सीमा केवल दृश्य, स्पृश्य, श्रव्य तथा अनुभवगम्य वस्तुओं तक ही नहीं होती, वे उसके परे, उसके आर-पार, उससे बहुत आगे तक देख सकने का हौसला रखते हैं। 'वस्तु की प्रकृति के मूल' को जान लेना ही उनके लिये सब कुछ है। पश्चिम के रोमान्टिक कवियों तथा अपने यहाँ के छायावादी-रहस्यवादी कवियों को इस प्रयत्न में दुहरे मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा। वक्तव्य के रूप में चुना तो उन्होंने वस्तु के आभ्यन्तर सत्य को, पर उसे स्थापित करने के लिए व्यक्तिगत माध्यम का ही सहारा लेना पड़ा। इसके बिना उनके सूक्ष्म प्रतीकात्मक भावों की अभिव्यक्ति सम्भव ही न थी। व्यक्ति के संपर्क में सबसे पहले आती है प्रकृति, फिर वर्ग, समुदाय और समाज। रहस्यवादी कवियों प्राकृतिक प्रतीकों, बिम्बों और रूपकों का आश्रय सबसे अधिक लिया।

प्रकृति मनुष्य की चिरसंगिनी है। एक रहस्यवादी कवि के निकट उसका महत्त्व दुहरा है। एक ओर तो वह कवि के भीतर सोये हुए कुतूहल तथा जिज्ञासा के भाव को अपने सौंदर्य के स्पर्श से जगाती है और दूसरी ओर उस उद्दीप्त भाव को प्रेषणीय बनाने में, उपमा, रूपक, प्रतीक आदि के द्वारा उसकी सहायता करती है। ब्लेक ने इसमें पहली बात को तो स्वीकार नहीं किया, पर दूसरी बात को वह भी अनिवार्य मानता है। ब्लेक ने जोर देकर कहा है कि तब तक हम उस अज्ञात सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते जब तक इस ज्ञात प्रकृति को भरपूर प्यार करना नहीं सीख लेते। इसीलिये समस्त रोमान्टिक कवियों को ऐन्द्रिय ज्ञान की महत्ता स्वीकार करनी पड़ी है। प्रकृति उनके लिये सब कुछ नहीं थी, पर प्रकृति के बिना वे कुछ नहीं थे। ब्लेक की यह भविष्यवाणी आज सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद भी सत्य होती नहीं दिखती कि एक समय ऐसा आयेगा जब बाह्य प्रकृति कवि के लिये आवश्यक नहीं रह जायेगी और बिना प्रकृति की सहायता के भी वह अदृष्ट सत्य को व्यक्त करने में समर्थ हो सकेगा। हम जानते हैं कि आज भी कविता का अधिकांश प्रकृति के माध्यम से ही व्यक्त होता है और निकट भविष्य में काव्य-जगत में उसके लोप का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता।

मनुष्य की प्यास अनन्त है और उसकी जिज्ञासायें असमाप्य। उसका जीवन प्रश्नों का जीवन है। समाधान के लिये वह अनवरत संघर्ष करता है। वह प्रकृति से ही चिर-असमाधानी है। उसकी आशा, आकांक्षा, सुख-दुख, जीवन-मरण—सभी कुछ उसके अनवरत संघर्ष से उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। वह छोटे-छोटे तथ्यों के टीले पर खड़े होकर किसी बहुत बड़े अज्ञात सत्य को पा लेने के लिये व्याकुल रहता है। सत्य की यही व्याकुलता

उसे चिन्मुख बनाती है, और वह विराट् शून्य से बहुत कुछ पा लेने में विश्वास करने लग जाता है। इस अंतिम हेतु तक पहुँचने के लिये उसे मानव-शरीर के अत्यन्त दुर्बल वृत्तिगत साधनों से काम लेना पड़ता है। ब्लेक ने ठीक ही कहा था कि यह कितने दुख की बात है कि उस विराट् की साधना के लिये हमें इतना दुर्बल मानव-शरीर दिया गया है। मनुष्य के वृत्तिगत साधनों में सर्वप्रथम आती है उसकी सौन्दर्य-वृत्ति। सौंदर्य की रहस्यमय प्रेरणा उसे प्रकृति के आभ्यन्तर सूक्ष्म रूप को देखने के लिये विकल करती है। सौंदर्य के मूल की यही खोज जब साहित्य में भावना के साथ रमणीय बनकर आती है तो उससे रहस्यप्रधान ऋचाओं, सूक्तों, पदों और गीतों का जन्म होता है। मनुष्य की यही भावात्मक रहस्यवृत्ति साहित्य के विकसित प्रयोगों में 'वाद' के साथ सम्बद्ध होकर 'रहस्य-वाद' कहलाती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस बात से असहमत हैं कि ब्लेक का 'परम कल्पना' वाला सिद्धान्त काव्यगत आलम्बनत्व का स्थान ले सकता है। उनके अनुसार उस दशा में अनुभूति कल्पित होगी, सच्ची नहीं। इसके सम्बन्ध में ब्लेक का यह कथन उद्धृत कर देना ही पर्याप्त होगा कि जब तक हम प्रत्यक्ष जगत को भरपूर प्यार करना नहीं सीख लेते तब तक अज्ञात सत्य की उपलब्धि असम्भव है। रवीन्द्रनाथ ने इसीलिये रहस्यवादी कविता के व्यक्तित्व को द्विमुखी बताया था—

'रहस्यवादी कविता की व्याख्या एक ओर प्रकृति के प्रति तात्कालिक प्रति-क्रिया के रूप में की जा सकती है और दूसरी ओर वह एक प्रकार की भविष्य-वाणी भी होती है।'*

इसका अर्थ यह हुआ कि रहस्यवादी कविता भी यथार्थ की तात्कालि-कता से कहीं न कहीं बँधी होती है। वस्तुतः भौतिक अनुभूति को रहस्यवादी कवि ठीक उसी प्रकार नहीं ग्रहण करता जैसे एक सामान्य कवि करता है। उसके लिये प्रत्यक्ष अनुभूति भी सांकेतिक होती है। उसके लिये स्वयं अनुभूति से भी बढ़कर इस 'संकेत' का महत्त्व होता है। काव्य में इस संकेत की अभि-व्यक्ति प्रतीकों के रूप में होती है। कल्पना उसके बारीक स्तरों को पहचान कर उनके अनुकूल प्रतीकों की सृष्टि करती और इस प्रकार कवि के समक्ष उसी की अस्पष्ट अनुभूति को एक प्रत्यक्ष रूप देकर रख देती है। रहस्यवादी कविता के विषय के साथ कल्पना को अभिन्न समझ लेने का यही कारण है।

---

[illegible] p. 16

अनुभूतिगत 'संकेत' जितना ही स्पष्ट होगा, रहस्यात्मक कविता की भावना उतनी ही सच्ची (सिन्सियर) होगी।

प्रश्न हो सकता है कि रहस्य किसके प्रति? उत्तर होगा 'अज्ञात' के प्रति। अज्ञात कैसा? छायावादी कवि इसका उत्तर देगा—

हे, अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता!
कैसे हो? क्या हो? इसका तो—
भार विचार न सह सकता!

'भार विचार न सह सकता' में कितनी सच्चाई है! इसी सच्ची अनुभूति को लेकर छायावादी कवि रहस्य के रस में लीन हुआ था। पुराने रहस्यवादी रहस्य की 'साधना' करते थे। आधुनिक रहस्यवादी रहस्य की 'भावना' करता है। दोनों में यही अंतर है। शुक्ल जी इसी रहस्यवादी 'भावना' को कल्पना कहते हैं।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार रहस्यवाद की उत्पत्ति के तीन कारण हैं—

१—मनुष्य का अज्ञात के प्रति सहज कुतूहल।

२—समाधान प्राप्त करने की मनुष्य की चिरन्तन प्यास।

३—मनुष्य की चेतना में सदा जाग्रत रहने वाला भय।

परलोक और कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण मध्ययुगीन रहस्य-साधकों के लिये तीनों ही बातें सत्य हैं। पर आधुनिक विज्ञान-विश्वासी रहस्यवादी के लिये तीसरा कारण कोई अर्थ नहीं रखता। अतः आधुनिक रहस्यवाद की उत्पत्ति के मूल में पहले दो ही ठहरते हैं। छायावादी कवि ने सौन्दर्य लोक के भीतर ही रहस्य की अनुभूति भी प्राप्त की और उसी में से अपने उपयुक्त समाधान को भी ढूँढ निकाला। सौंदर्य का आधार तो यही जगत रहा, पर उसने इस प्रत्यक्ष सौंदर्य में एक ऐसे सत्य को प्रतिष्ठित कर लिया जो अभौतिक था। इस प्रत्यक्ष सौंदर्य और अप्रत्यक्ष सत्य—दोनों को मिलाने वाली क्रिया का नाम कल्पना हुआ। महादेवी जी ने इस बात को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में ऐसा तार-तम्य खोजने का प्रयास किया गया जिसका एक छोर किसी असीम चेतना और दूसरा असीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा। परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास

न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-रंजित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुर व्यक्तित्व का आरोप करके उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य (छायावाद) का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यवाद का नाम दिया गया।'

'मधुर व्यक्तित्व' के इस आरोपण में कल्पना को कभी स्वप्न, कभी सांकेतिक चित्रों, कभी जीवन की गोधूली और कभी कण-कण में उसके स्पंदन की सृष्टि करनी पड़ती है। यह प्रश्न अलग है कि इस आरोपित व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन का क्या अर्थ है? शुक्ल जी का आक्षेप ऐसे ही 'आरोपित व्यक्तित्व' के प्रति था। ऊपर जिस अनुभूतिगत 'रहस्य संकेत' की बात की गई है उसके अभाव में यह आरोप अलीक हो जाता है।

अन्तर्दृष्टिविधायिनी कल्पना ने रहस्यवादी कविता में जिन प्रतीकों की सृष्टि की—उनमें स्वप्न, सत्य, प्रभात, सन्ध्या, असीम, अनन्त, समुद्र, नदी, इस पार, उस पार बहुत प्रसिद्ध हैं। इन प्रतीकों की मौलिक प्रकृति के सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे। यहाँ कुछ खास-खास रहस्यवादी प्रतीकों और रूपकों का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। निराला ने उस अज्ञात की कल्पना प्रभात के रूप में की है।

> भर देते हो
> बार बार प्रिय करुणा की किरणों से
> क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
> मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर
> कर जाते हो व्यथाभार लघु
> बार बार कर-कंज बढ़ाकर
>
> × ×
>
> तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो!
> नव प्रभात जीवन में भर देते हो!

प्रभात में मानवीय संवेदना और चेष्टाओं का आरोप ध्यान देने योग्य है। कवि ने यहाँ दुहरे संकेतों से काम लिया है। एक ओर तो वह जगत में नित्य होने वाले प्रभात का चित्र उपस्थित करता है, दूसरी मानवीकरण के द्वारा उसकी कल्पना इसे 'अज्ञात' का प्रतीक भी बना देती है। रहस्यवादी कविता का यह दुहरा रूप बराबर मिलता है।

प्रसाद के मनु ने प्रभात के इस शुभ उत्साह का किसी अलौकिक के चरणों में नत होते देखा था—

जीवन ! जीवन ! की पुकार है,
खेल रहा है शीतल दाह !
किसके चरणों में नत होता—
नव प्रभात का शुभ उत्साह !

इस दिव्य प्रेरणा से मनु के कानों में यह वरदान-सा गूँज उठा था—

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा—मैं रहूँ—
शाश्वत नभ के गानों में !

पन्त जी ने 'नक्षत्र' को सम्बोधित करते हुए उसे अनन्त की अगम कल्पना, आदिनग्न सौंदर्य, अज्ञात देश का नाविक तथा निद्रा का रहस्य-कानन कहा है—

हे अनन्त की अगम कल्पना
हे अशब्द भागति अविषय,
आदि नग्न सौन्दर्य निरामय,
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय

* *

ऐ अज्ञात देश के नाविक,
ऐ अनन्त के हृत्कम्पन !
नव प्रभात अस्फुट अंकुर,
निद्रा के रहस्य कानन !

महादेवी जी की इस कामना में मानव-सामर्थ्य की कितनी बड़ी लाचारी छिपी हुई है—

इस अचल क्षितिज रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के,
पर तुम्हें पकड़ पाने के—
सारे प्रयत्न हों फीके !

क्षितिज उस अज्ञात प्रिय ( आरोपित मधुर व्यक्तित्व ) का प्रतीक है जो दूर के संगीत के भाँति कभी पकड़ में नहीं आता। तड़ित् की मुस्कान की भाँति जो अकस्मात् लोचनों को मूँद जाता है और सुरभि की सपाँस्था से मानव की व्यथित संवेदना को सहलाता है। परन्तु यह सब कुछ एक अस्पष्ट स्वप्न-भङ्गिमा की तरह होता है।

रवीन्द्रनाथ ने उस 'अज्ञात देशी' के साथ 'स्वप्न मिलन' का एक बड़ा ही मनोरम चित्र खींचा है—

सुन्दर तुमि एशेछिले आज प्राते,
अरुण वरण पारिजात लये हाते,
निद्रित पुरी पथिक छिले ना पथे,
एका चलि गेले तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया मोर वातायन-पाने—
चेयेछिले तव करुण नयन पाते !
× × ×
कतवार आमि भेवेछिनू उठि उठि
आलस त्याजिया पथे बहिराई छूटि !
उठिनू यखन तखन गियेछ चले
देखा बूझि आर हलो ना तोमार साथे !†

सहज जीवन व्यापार के साथ घुल-मिलकर यह रहस्यभावना कितनी स्वाभाविक हो गई है ! रोमांटिक कविता में इस तरह के रहस्य-संकेत अत्यन्त वैयक्तिक स्तर पर निर्मित हुए हैं। इसीलिये उनमें मानवीय सम्बन्धों की प्रगाढ़ता है।

रहस्य सत्ता के प्रति यह जिज्ञासा जब अत्यन्त तीव्र मानवीय संवेदना के रूप में होती है तो वहाँ कवि की अन्तर्दृष्टि अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रों का आकलन करती है—जैसे निराला का यह गीत—

पार, पारावार जो है
स्नेह से मुझको दिखा दो !
रीति क्या, कैसे नियम,
संकेत कर करके सिखा दो !
कौन से जन, कौन जीवन
कौन से गृह, कौन आंगन !
किन तनों की छाह के तन
मान मानस में लिखा दो।

---

†—सुन्दर, तुम आज प्रात काल आये थे। हाथ में अरुणवरण पारिजात लिये हुए। नगर सोया हुआ था, पथ पर एक भी पथिक न था। तुम अकेले अपने स्वर्ण-रथ पर बैठकर इस पथ से गये थे। एक बार मेरे वातायन के पास रुककर अपने करुण नयनों से देखा था—कितनी बार मैंने सोचा कि आलस तजकर उठूँ और बाहर जाकर देखूँ। पर जब उठकर देखा तो तुम जा चुके थे। सम्भवत अब हमारा तुम्हारा मिलना कभी न हो सकेगा। —'गीताजलि' से

एक ऐसे युग में जब मानव की जय-यात्रा मंगल ग्रह और चन्द्रलोक तक को छू लेने के लिये व्याकुल हो रही है—निराला की यह जिज्ञासा कितनी स्वाभाविक है। पर कल्पना की यह क्रीड़ा जब अत्यन्त अस्पष्ट और क्षीण अनुभूति के आधार पर शुद्ध भावनालोक में पहुँचकर दौड़ लगाती है तो कवि की अन्तर्दृष्टि को 'त्रिदिक् विश्व' दिखाई देता है—जिससे भौतिक जगत् की स्मृतियाँ बहुत दूर नीचे छूट चुकी होती हैं—

ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित,
भूमण्डल रेखा विलीन-सी,
निराधार उस महादेश में,
उदित सचेतनता नवीन-सी,
त्रिदिक् विश्व आलोक विन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे,
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे, किन्तु सजग थे!

संक्षेप में इस प्रकार की प्रातिभज्ञानमूलक ( इन्ट्यूटिव ) कल्पना को शुद्ध काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। शुद्ध काव्य का विकास दो प्रसिद्ध मतों की छाया में अलग-अलग ढंग से हुआ था। एक छोर था क्रोचे का जहाँ वह बाह्य यथार्थ से सर्वथा अन्तर्मुख होकर आत्मा की स्वायत सत्ता में लीन था और दूसरा छोर था फ्रांस के प्रसिद्ध प्रतीकवादियों का जो शुद्ध ऐन्द्रिय सत्य को ही सब कुछ मानते थे। दोनों अभिव्यक्ति-पद्धति पर जोर देते थे और दोनों ने कला को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया। क्रोचे ने काव्यप्रक्रिया को एक विशुद्ध मनोमय व्यापार माना है और मन के कार्य को दो भागों में बाँटा है—

१—धारणानिर्मात्री क्रिया ( कन्सेप्ट मेकिंग एक्टिविटी )

२—मूर्तिनिर्मात्री क्रिया ( इमेज मेकिंग एक्टिविटी )

काव्य और अन्य कलाओं का सम्बन्ध दूसरे से है। क्रोचे ने मूर्तिविधान (इमेजरी) को मन की पहली क्रिया माना है। मूर्तियों की उत्पत्ति सहज चेतना अथवा प्रातिभज्ञान ( इन्ट्यूशन ) के गर्भ से होती है। कल्पना का क्षेत्र यही सहज-चेतना अथवा प्रातिभज्ञान का क्षेत्र है। मन बाहर की छापों को ग्रहण करता रहता है। पर यह छाप की क्रिया का आरम्भ बिन्दु है, इसकी पूर्ण परिणति अभिव्यंजना में होती है। महत्त्व स्वयं इस अभिव्यंजना का है, उस छाप का नहीं। मनोगत छापों को भी क्रोचे ने दो भागों में विभाजित किया है—आत्मगत तथा इन्द्रियगत। कला का सम्बन्ध दूसरे से है।

क्रोचे के अनुसार इन्द्रियगत छाप निरर्थक है। इस प्रकार बिम्बनिर्माण की क्रिया भी एक प्रकार की शुद्ध चेतना का व्यापार है। इसी 'शुद्ध चेतना' को क्रोचे ने 'इन्ट्यूशन' कहा है। कला तथा साहित्यगत सम्मूर्त्तन-विधान के सम्बन्ध में क्रोचे का अन्तिम वाक्य इस प्रकार है—

'प्रत्येक वास्तविक सहज चेतना ( इन्ट्यूशन ) अथवा मूर्तिविधान अभिव्यजना भी है।' और—

'सौन्दर्य की परिभाषा सशक्त अभिव्यजना अथवा इससे भी अच्छे रूप में, केवल अभिव्यजना कहकर दी जा सकती है।'

क्रोचे ने कल्पना को एक प्रकार से अन्तर्दृष्टि का पर्याय-सा बना दिया है। ऐन्द्रियज्ञान की उपेक्षा करके उसने कल्पना को और भी सकीर्ण अर्थ दे दिया है। क्रोचे का सिद्धान्त भाववादी दर्शन के आधार पर निर्मित हुआ है जिसमें विचार या भाव ही सब कुछ होता है, वस्तु कुछ भी नहीं अथवा आभासमात्र। पर वैज्ञानिक सत्य यह है कि बिना ऐन्द्रियज्ञान के न तो कोई धारणा हो सकती है, न मूर्तिविधान, न अभिव्यजना।

प्रतीकवादियों के निकट कल्पना वस्तुत: बौद्धिक कल्पना होती है। वर्लें ने उस कल्पना को, जो उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का निर्माण करती है, कवियों के लिये हानिकर बताया है। वर्लें ने प्रयत्नपूर्वक अपनी कविता में केवल ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किये हैं जो अविच्छेद्य रूप में उसकी व्यक्तिगत अनुभूति से सम्बद्ध हों। इस प्रकार के चित्र आत्मा की एक विशेष दशा को व्यजित करते हैं। प्रतीकवादियों के निकट किसी भाव की अभिव्यक्ति सर्वथा आकस्मिक होती है और यह आवश्यक नहीं कि कविता में व्यजित विचारों में कोई सगति हो ही। कभी-कभी उनका अर्थ सघटन विशृखल भी हो सकता है। कारण यह है कि प्रतीकवादी कवि बाह्य जीवन की सहज लय (रिद्म) और अन्तर्जगत के स्वप्न-प्रतीकों को अपनी कला में उतारना चाहते थे। इसके लिये बाह्य व्यवस्था का कोई महत्त्व ही न था। रिम्बो के लिये तो बाह्य जगत जैसे था ही नहीं। वह बार-बार कहता था कि 'मैंने तो कल्पना लोक में रहने की आदत-सी डाल ली है।' अनुभूति को सभी प्रतीकवादी आकस्मिक मानते थे, उतना ही जितना नदी की लहरों में पत्थर फेंकने पर एक हल्की थरथराहट का उभरना आकस्मिक होता है। कविता में क्रिया को वे आवश्यक नहीं मानते थे। वालेरी ने तो काव्य को 'शुद्ध उद्भावना' का क्षेत्र ही माना है, क्योंकि उसके अनुसार काव्य किसी बाह्य सत्ता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है, 'वह अह द्वारा अह का सम्बोधन है।' प्रतीकवादी इस बात को आवश्यक नहीं मानते थे कि कविता में वस्तु अथवा तथ्य की अभिव्यक्ति हो, ही।

उनके अनुसार कवि एक भाव से दूसरे भाव को सम्बद्ध और प्रभावित करता है। इस सूक्ष्म भाव-व्यापार में कवि को साधारण काव्य-पद्धतियों का त्याग करके संकेतों, प्रतीकों तथा अध्यवसान रूपकों से काम लेना पड़ता है। कवि-कल्पना की चरम सफलता इस बात में है कि वह उपर्युक्त माध्यमों से पाठक के आगे स्वप्नों का एक कुहाच्छन्न संसार खड़ा कर दे। कल्पना की व्याख्या एक प्रतीकवादी कवि ने इस प्रकार की है—'जो स्वतः बिम्ब हो, बिना इस बात को जाने कि ऐसा क्यों है, जो अनुभूतियों की व्याख्या न करे, उन्हें केवल अभिव्यक्त करे—वही काव्योचित कल्पना है।'*

प्रतीकवादियों की दो सीमायें हैं। एक तो वे वस्तु का महत्त्व नहीं स्वीकार करते, दूसरे वे काव्यगत भावों की प्रेषणीयता को आवश्यक नहीं मानते। परिणामतः उनका काव्य नये चित्रों, उद्‌भावनाओं और ऐन्द्रिय संवेदनाओं से हमें प्रभावित तो करता है, पर उसका समग्ररूप से ग्रहण नहीं हो पाता। कभी-कभी उनके स्वप्न-प्रतीक इतने दुरूह और उलझे हुए आते हैं कि उनका साधारणीकरण एक तरह से असंभव हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रतीक-वादियों ने अपनी कल्पना को अनुभूति के एक अत्यन्त सीमित दायरे में बन्द कर लिया था और अनुभूतिगत संकोच के कारण उनकी कल्पना ने अपना विस्तार शुद्ध अन्तर्दृष्टि के स्तर पर किया। उसके फैलने के लिये दूसरा कोई अवकाश ही न था। भारतवर्ष में इस शैली का प्रभाव बहुत बाद में पड़ा। हिन्दी की छायावादी कविता पर प्रतीकवाद का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर हैं। छायावादी कवि की कल्पना ब्लेक, कोलरिज, शेली आदि के सिद्धान्तों और प्रयोगों से प्रभावित है। इस अन्तर्दृष्टिविधायिनी कल्पना के प्रसाद से जो कुछ अभूतपूर्व विशेषतायें हमारे साहित्य में आ गई हैं उनसे हमारा काव्य निस्संदेह सम्पन्न हुआ है। उसने हमें सत्य को समझने के लिए एक नयी दृष्टि दी और प्रत्यक्ष वस्तु के उन आयामों का उद्‌घाटन किया जिन्हें हम सामान्यतः नहीं देख पाते। छायावादी कवियों की इस विशिष्ट कल्पनावृत्ति और सौन्दर्य-प्रेम के कारण हमारे काव्य में जो नई विशेषताएँ आई हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

१—कल्पना शक्ति के द्वारा अतीन्द्रिय सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न।

२—उक्त अतीन्द्रिय सत्य की भावात्मक उपलब्धि के द्वारा आभास दृश्यमान यथार्थ की विसंगतियों को समझने और समझाने का प्रयास।

३—वस्तु के 'आभ्यन्तर सत्य' पर आधारित होने के कारण एकता की भावना और सार्वभौम दर्शन की प्रधानता।

---

*—उद्धार और धारा दर्शन—'प्रतीक' ७, ग्रीष्म,—पृ० ५६।

४—रहस्यवादियों ने हमें यह धारणा दी कि हमारे हृदय पर पड़े हुए वाह्य प्रभाव भ्रम या धोखा नहीं हैं। इन्हीं 'प्रभावों' के द्वारा उस सौंदर्य की सृष्टि होती है, जो चिरन्तन है।

५—तर्क तथा बुद्धि की प्रधानता के स्थान पर सहज चेतना और अन्त-र्दृष्टि का महत्त्व।

६—*व्यक्ति की महत्ता के प्रति पूर्ण आस्था।*

७—रचना को कवि का धर्म मानकर कवि-कर्म और कला की महत्ता को गौरव देना।

इन विशेषताओं के साथ-साथ अन्तर्दृष्टि-विधायिनी कल्पना की दुरूहता और एकान्त भाव-चिन्तन के कारण रहस्यवादी कही जाने वाली रचनाओं में कुछ ऐसी विसंगतियाँ भी आ गई थीं, जिन्होंने कविता को एक विचित्र जादू की दुनिया में ले जाकर छोड़ दिया—

१—अत्यधिक रोमान्टिक वृत्ति, उच्छृंखलता, अनुभूति की परिक्षीणता।

२—अतीन्द्रिय सत्ता को ही सब कुछ मान लेने के कारण प्रत्यक्ष यथार्थ का अतिक्रमण।

३—काव्यगत अस्पष्टता, दुरूहता, तथा शब्दों में अगम्य ऐकान्तिक अर्थों का समावेश।

४—परम्परागत उपलब्धि की उपेक्षा, व्यक्तिगत क्षमता का अत्यधिक महत्त्व।

५—अज्ञात अपरिचित सौन्दर्य लोक की कल्पना।

६—अध्यवसानरूपक तथा अन्योक्तिपद्धति के ग्रहण के कारण अधिकांश छायावादी-रहस्यवादी कविताओं का व्यक्तित्व दुहरा हो गया। उदाहरण के लिये पंत जी जब 'नक्षत्र' को सम्बोधित करते हैं तो उनके सामने दृश्य नक्षत्र भी होता है और उस नक्षत्र के पीछे छिपी हुई एक कल्पित अदृष्ट सत्ता भी। इससे भावों का सघन इकहरा प्रभाव नहीं संघटित हो पाता और पाठक के निकट कभी-कभी एक भावात्मक द्विधा की स्थिति बनी रह जाती है।

कुल मिलाकर इन कविताओं की सफलता यह है कि उन्होंने केवल अज्ञात अपरिचित सौन्दर्य लोक की सृष्टि ही नहीं की, अपने युग के पाठकों को उस काल्पनिक वातावरण के लिये अभ्यस्त भी कर लिया। वस्तुतः यह उनकी सबसे बड़ी सफलता है। छायावाद ने कल्पना (जिसमें वेदना की कसक भी मिली हुई थी—'कल्पना में है कसकती वेदना', पंत) के हाथों से युग की संवेदना के मर्म को स्पर्श करने की चेष्टा की और निस्सन्देह युग ने भी उन विकल जिज्ञासु हाथों का स्पर्श अनुभव किया। मैथ्यू आर्नल्ड ने शेली की कविता

को एक ऐसे फरिश्ते के पंख की फड़फड़ाहट कहा था जो अनवरत ऊर्ध्वमुख हवा के झोंकों के विरुद्ध लड़ता जा रहा है। रोमांटिक कविता (छायावादी-रहस्यवादी) की पीड़ा और उसका आनन्द—दोनों ही इस ऊर्ध्वमुखी संघर्ष की उपज हैं। इसी ऊर्ध्वमुख संघर्ष को हिन्दी के कुछ आलोचकों ने 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा है।

---

८

# सम्मूर्तन-विधान

काव्य की जो विशेषतायें हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करती हैं उनमें बिम्ब या चित्र (इमेज) का स्थान सर्वप्रथम है। बिम्ब बहुत व्यापक शब्द है और इसका विचार समानरूप से साहित्य तथा मनोविज्ञान, दोनों ही में किया जाता है। मनोविज्ञान में इस शब्द का अर्थ है मानसिक पुनर्निर्माण, एक स्मृति, अतीत की एक संवेदनात्मक अनुभूति। आवश्यक नहीं कि बिम्ब केवल दृश्य ही हो। वह एक ऐन्द्रिय अनुभव की अनुकृति भी हो सकता है, वह स्वादपरक, घ्राणपरक, स्पर्शपरक भी हो सकता है। या फिर वह केवलमात्र एक विचार, एक मानसिक घटना, एक अलंकार अथवा किन्हीं दो वस्तुओं की तुलनात्मक इकाई भी हो सकता है।[1] बिम्ब की काव्य में क्या उपयोगिता हो सकती है—इस प्रश्न पर पश्चिम में बहुत विचार किया गया है। अपने यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय साहित्यशास्त्र तथा मनोविज्ञान के आधार पर मूर्त्तिविधान तथा बिम्ब ग्रहण की विशद विवेचना की है।

इससे पहले कि हम बिम्ब (इमेज) की प्रकृति, उसके मूलस्रोत, उसके काव्यगत स्वरूप आदि का अध्ययन करें, यह आवश्यक है कि हम बिम्ब से सम्बन्धित मतों तथा सिद्धान्तों से भी परिचित होते चलें। योरोप में 'इमैजियम' के नाम से एक काव्यान्दोलन भी चल चुका है जिसके नेता एजरा पाउण्ड तथा टी० ई० ह्यूल्म थे। फ्लीन्ट नामक एक विद्वान ने सन् १९१३ में 'तीन बिम्बवादी विधियाँ' नाम से एक विवेचन प्रस्तुत किया था जिसका सार निम्नलिखित है—

(१) काव्य में वस्तु का प्रत्यक्ष ग्रहण।

---

१—The term image is ambiguous at a point at which precision is desirable An image may be, for example, a visual image, a copy of sensation, or it may be an idea, any event in the mind, which represents something, or it may be a figure of speech , a double unit involving a comparison

—I A Richards Coleridge on Imagination p 34.

(२) ऐसे शब्दों का सर्वथा परिहार जो काव्य को अर्थवान् बनाने में योग नहीं देते।

(३) काव्यनिर्माण में सांगीतिक नियम का निर्वाह अर्थात् उसकी लय को घड़ी के पेण्डुलम के नियम से न बाँधना।

इस आन्दोलन के प्रवक्ताओं ने पूरे बल के साथ इस बात की स्थापना की थी कि 'हमारा विश्वास है. कविता को केवल 'विशेष' (पर्टीकुलर) का ही निर्माण करना चाहिये और उसे किसी भी दशा में अस्पष्ट, सामान्य बातों में नहीं उलझना चाहिये—चाहे वह बात कितनी भी ऐन्द्रिय हो।' इसका अर्थ यह है कि उन्होंने काव्य में संक्षिप्तता, चित्रात्मकता, लयात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता पर अधिक बल दिया. विषय की लघुता तथा विस्तार, कोमलता तथा परुषता, विरलता तथा सघनता का विचार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि उनका काव्य बिम्बों की संक्षिप्तता और ताजगी की दृष्टि से तो अनूठा निकला. पर उसकी व्यंजनागत संभावनायें दिन-पर-दिन संकुचित होती गईं। कविता छोटे-छोटे रंगीन और चुभते चित्रों का 'अलबम' बन गई। आगे चलकर लम्बी और वर्णनात्मक कविताओं के रूप में इस प्रवृत्ति की व्यापक प्रतिक्रिया हुई।

'कविता मानव मन की पहली प्रतिक्रिया है। मनुष्य प्रवृत्ति से ही व्यापक नियमों तक पहुँचने से पहले छोटे-छोटे कल्पना चित्रों के पास पहुँच जाता है। इससे पहले कि स्पष्टतः यथार्थ को प्रतिबिम्बित करे, वह अपनी उलझी हुई और अस्पष्ट चेतना से वस्तु का ग्रहण करता है। इससे पहले कि स्पष्ट उच्चारण करे, वह केवल कुछ संकेतों और अस्पष्ट ध्वनियों से काम लेता है। इससे पहले कि वह गद्य बोले, उसके मुख से निसर्गतः कविता निकलती है। इससे पहले कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करे वह रूपकों का प्रयोग करता है और रूपक का प्रयोग उसके लिये उतना ही अधिक स्वाभाविक होता है जितनी स्वाभाविक कोई भी वस्तु हो सकती है'[१]। विको की इस मार्मिक उक्ति

---

१— Man, before he has arrived at the stage of forming universals, forms imaginery ideas, Before he reflects with a clear mind, he apprehends with faculties confused and disturbed, before he can articulate, he sighs, before speaking in prose, he speaks in verse; before using technical terms, he uses metaphors, and the metaphorical use is as natural to him as that which we call 'Natural'.

—Vico quoted by C D. Lewis, Poetic Image. p. 11

में मनुष्य की निसर्गसिद्ध बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति का बड़ा अच्छा परिचय मिलता है। बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों तथा बिम्बों की सहायता के मानव-अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असम्भव है। यहाँ तक कि जब हम शुद्ध विचार के क्षेत्र में पहुँचकर गम्भीर तत्त्वदर्शन की चर्चा करते हैं तब भी हमारे उपचेतन में कहीं-न कहीं उन भावों तथा विचारों के वर्णचित्र उभरते-मिटते रहते हैं। यह बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पूरे मानव-जीवन में कुछ इस तरह से फैली हुई है कि हमारे लिये वह अति परिचयजनित अवज्ञा की वस्तु हो गई है। मानव जीवन का जो वर्ग प्रकृति के जितना ही निकट होगा उसके लिये बिम्बों का प्रयोग उतना ही अधिक सहज और एक तरह से अनिवार्य होगा। देहात में बसने वाले किसानों की बातचीत में बिम्बचित्रों की अनवरत शृखला देखकर एक सभ्य नागरिक आश्चर्यचकित हो सकता है, पर स्वय उस किसान के लिये वह उतनी ही जानी-पहचानी चीज है जितनी साँस लेना या खेत की मेड़ पर हवा के झोंकों से सिहरती हुई गेहूँ की बाल को देखना। देहात के पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के भीतर बिम्बों का प्रयोग और अधिक स्वाभाविक रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि उनके सस्कार अपेक्षाकृत अधिक अतीतोन्मुखी अर्थात् प्रकृति जीवन के अधिक समीपी होते हैं। कारण, उन पर आधुनिक यान्त्रिक सभ्यता की छाप अभी पूरी तरह उभर नहीं पाई है। काडवेल ने सबसे पहले इस सिद्धान्त को स्थापित किया कि आदिम मनुष्य ने बिम्बों का निर्माण अपने कर्म-जीवन की सापेक्षता में किया होगा। उसने तरगायित सुनहली फसलों को देखा होगा और इस प्रकार अपने को और अपने कबीले को इस बात के लिये प्रेरित किया होगा कि वे फसलों का सोना उगाने के लिए अधिक से अधिक कर्मशील हों। काडवेल की यह स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है कि 'आदिम कविता वस्तुतः मूर्तिविधान के द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियों को शिक्षित करने का ही एक साधन थी और किसी न किसी रूप में यह आज भी सत्य है[१]। वह 'मिथ' और 'इमेज' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखता है कि 'मिथ' मनुष्य की 'सामूहिक चेतना' की उपज है और बिम्ब व्यक्तिचेतना की। निर्मित हो जाने के अनन्तर बिम्ब को भी स्वीकृति के लिये उसी 'सामूहिक चेतना' के पास जाना पड़ता है।'

---

१—The poetic myths are deed, and the poetic image, which is the myth of the individual, reigns in their stead The poetic myth was created by a collective consciousness, the poetic image returns to that consciousness for its sanction

—C Caudwell Illusion and Reality—P 338

यह तो रही बिम्ब निर्माण की आदिम प्रक्रिया की बात। अब हम सीधे आधुनिक विषय पर आते हैं। वस्तुतः काव्यगत बिम्बों की जितनी चर्चा आज हो रही है, उतनी पहले नहीं हुई थी। पहले-पहल रोमान्टिक कविता में बिम्बों की अधिकता का भान कोलरिज को हुआ था। उसने लिखा है कि आधुनिक कविता में कवि का ध्यान जितना अधिक नये-नये चित्रों और बिम्बों की खोज में लगा रहता है उतना छन्द, तुक या काव्यात्मक पदावली के निर्माण में नहीं लगता। यह बात अपने यहाँ की छायावादी कविता के बारे में भी सोलहो आने सच है।

मोटे तौर पर किसी भी कविता में बिम्ब की दो उपयोगितायें हो सकती हैं—

(१) इन्द्रियगत विशिष्टता (सेन्सुअस पर्टीकुलरिटी)—जो काव्य को संगीत तथा चित्रकला से जोड़ती है और दर्शन तथा विज्ञान से अलग करती है।

(२) अलंकृति—जो काव्य को संक्षिप्तता प्रदान करती है और उसमें व्यंजकता और भास्वरता लाती है तथा वैज्ञानिक खण्वाट् पद्धति से उसे पृथक्ता प्रदान करती है।

प्रतीक भी अपनी जगह, अपने ढंग में यही कार्य करता है। पर प्रतीक और बिम्ब में एक मौलिक अंतर है। सफल बिम्ब प्रतीक के ठीक विपरीत होता है। प्रतीक सांकेतिक होता है। वह सदैव किसी वस्तु विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है। जैसे "मं" कहने से एक विशेष व्यक्ति का और केवलमात्र उसी व्यक्ति का बोध होता है उसी प्रकार प्रतीक भी किसी 'एक' की ओर ही सदैव इंगित करता है। बिम्बों का ग्रहण दूसरी तरह से होता है। वे प्रकृति से ही संश्लिष्ट होते हैं अतः उनका ग्रहण भी संश्लिष्ट रूप में ही होता है। वे अपनी पृष्ठभूमि में एक बृहत्तर भावधारा को सँजोये होते हैं। प्रत्येक पाठक व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से ही उन तक पहुँच सकता है। यही नहीं, प्रत्येक पाठक उनका ग्रहण अपने अनुसार करता है, अपने अनुभवों के संदर्भ में। अतः यह कहा जा सकता है कि बिम्ब अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द(आर्बिट्रेरी) और नानाअर्थ व्यंजक होते हैं जबकि प्रतीक नियत और अचूक रूप से एकार्थ व्यंजक होते हैं। प्रतीक अपेक्षाकृत अधिक परम्परागत और समाजस्वीकृति-सापेक्ष होते हैं। बिम्ब कम, लगभग नहीं। प्रतीकों का प्रयोग एक ऐतिहासिक जीवन प्रवाह की अपेक्षा रखता है। वह निरन्तर प्रयुक्त होते होते ही नियत अर्थ और निश्चित रूप ग्रहण करता है। इसके विपरीत बिम्ब प्रायः आकस्मिक होते हैं। उनका जीवन, प्रवाह-जीवन नहीं होता। इसीलिये बिम्ब को जहाँ सरलता से कविता के बाहर निकालकर रक्खा जा सकता है और वहाँ

भी वह जल से निकाले हुए ताजे कमल की तरह अपना सौंदर्य बनाये रख सकता है। प्रतीक कविता से बाहर निकलकर अपना अर्थ चाहे बनाये रक्खे, पर अपना कलात्मक सौंदर्य अवश्य खो देता है। प्रसिद्ध प्रतीकवादी यीट्स का तो यहाँ तक कहना है कि एक बिम्ब जब एक ही कवि अथवा कलाकार की रचना में बार बार प्रयुक्त होता है तो उसमें प्रतीक-की-सी निश्चितता आ जाती है और उसकी उत्तरकालीन रचनाओं में वह असंदिग्ध रूप से प्रतीक हो जाता है। महादेवी जी की प्रारम्भिक कविताओं में दीप, फूल, झंझा, समीर, आकाश, निर्झर आदि के जो चित्र आये हैं वे निश्चय ही बिम्ब की स्थिति के अधिक निकट या प्रायः बिम्ब ही हैं। पर धीरे धीरे उनके विकसित प्रयोगों में इन बिम्ब चित्रों की इतनी आवृत्ति हुई कि अब उनके अर्थ में प्रतीकगत निश्चितता आ गई है—वे प्रतीक हो गये हैं।

उपर्युक्त स्थापनाओं की परीक्षा कुछ उदाहरणों के माध्यम से कर ली जाय।

कहा गया है कि बिम्ब का ग्रहण संश्लिष्ट रूप में होता है और प्रतीक का एकान्त अर्थ की विशिष्टता के रूप में। 'राम की शक्ति पूजा' की इन प्रसिद्ध पंक्तियों को लीजिये—

> ऐसे क्षण अंधकार घन में जैसे विद्युत्
> जागी पृथ्वी तनया कुमारिका छवि, अच्युत
> देखते हुए निष्पलक, यदि आया उपवन
> विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
> नयनों का नयनों से गोपन प्रिय सभाषण—
> पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन—
> काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदाय —
> गाते खग नव जीवन परिचय, तरु मलय वलय।

इसमें चित्रों की एक क्रमबद्ध शृङ्खला है। राम की तत्कालीन मनःस्थिति को व्यक्त करने के लिये कवि ने चित्रों में क्षिप्रता और एक प्रकार का ऐन्द्रिय आवेग सा भर दिया है। प्रत्येक बिम्ब पूरे अर्थ की, पृष्ठभूमि की, और सजावट की सम्बद्धता में ही अपना अर्थ रखता है। प्रत्येक पाठक इस बिम्बभावना का ग्रहण अपने-अपने अनुभव के अनुसार करेगा। अंधकार, विद्युत्, उपवन, किसलय, पराग, खग, तरु-मलय वलय आदि बहुत से ऐसे बिम्ब हैं जो किसी अन्य संदर्भ में प्रतीक हो सकते थे। पर यहाँ उनका घनिष्ट सम्बन्ध वाच्यार्थ से है, व्यंग्यार्थ से नहीं। अतः उनका ग्रहण बिम्ब के रूप में ही होगा, किसी अन्य रूप में नहीं।

इसके विपरीत प्रतीक एकान्त-अभिव्यक्ति-विशिष्ट अर्थ का प्रकाश लक्षणा अथवा व्यंजना शब्दशक्तियों के सहारे करता है। महादेवी जी की इन पंक्तियों को देखिये—

यह बताया झर सुमन ने,
यह बताया मूक तृण ने,
यह कहा बेसुध पिकी ने,
चिर पिपासित चातकी ने
सत्य जो दिव कह न पाया था, अमिट संदेश में।

न तो इन बिम्ब चित्रों का समष्टि रूप में ग्रहण ही सम्भव है और न इनसे पाठक की विरल ऐन्द्रिय अनुभूति ही उतने घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। प्रत्येक प्रतीक किसी न किसी विशेष भौतिक सत्य का उपलक्षण है। इससे उसके अर्थ की सीमायें बहुत स्पष्ट हैं। बिम्ब की तरह उसके ग्रहण में पाठक को इस बात की उतनी स्वच्छन्दता नहीं है कि वह अपनी बिल्कुल निजी अनुभूतियों के सर्वथा अनुकूल ही इन चित्रों का ग्रहण करे।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में एक बात और ध्यान देने की है जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निराला की इन पंक्तियों में से किसी बिम्ब को इस सन्दर्भ से हटाकर कहीं अलग रख दीजिये। उदाहरण के लिये—

'काँपते हुए किसलय' अथवा 'तरु-मलय-वलय' इन चित्रों को लिया जाय। पूरे सन्दर्भ से अलग भी इनकी कलात्मक स्थिति उतनी ही सुन्दर बनी हुई है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस विश्लिष्ट अवस्था में अर्थ की क्षीणता अवश्यंभावी है। पर महाकवि कालिदास के 'संस्कारोल्लिखितो महा-मणिरिव क्षीणोऽपि नाऽऽलक्ष्यते' की भाँति इसकी भी क्षीणता वर्णों की कांति में सहज ही छिप जाती है। इसके विपरीत महादेवी जी की पंक्तियों में आये हुए चित्रों का एकान्त ग्रहण सम्भव तो है, पर इससे उनका कलात्मक सौन्दर्य ही जैसे खंडित हो जायेगा। पाठक का ध्यान इस बात पर नहीं जायेगा कि किस सुमन ने, कैसा रंग था उसका, किस स्थान पर खिला हुआ था वह—आदि आदि वह सीधे झरकर सुमन ने क्या बताया इस सत्य के पास पहुँच जायेगा। दूसरे शब्दों में उसके सामने कोई दृश्यखण्ड नहीं उपस्थित होगा। वह शुद्ध-शुद्ध अर्थ का भोक्ता ही बन सकेगा। इसी बात को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अर्थ ग्रहण और बिम्बग्रहण वाले प्रसंग में अधिक शास्त्रीय ढंग से कहा है। यद्यपि यह मानना कि प्रतीकों की अपनी कलात्मक स्थिति शून्य होती है, ठीक नहीं है। उसी तरह बिम्बग्रहण भी हमेशा संश्लिष्ट रूप में ही हो, यह भी आवश्यक नहीं है।

कल्पना प्रकृति के ऊपर मानसिक जगत का प्रक्षेपण है, इस बात को समझने में बिम्बों का अध्ययन सबसे अधिक सहायक हो सकता है। हमारी आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित प्रकृति-चित्र का नाम बिम्ब या 'इमेज' है। उसका सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से होता है। हम अपनी आवश्यकताओं के द्वारा निर्मित चित्रों को मानव-हृदय की अनुभूतियों से सम्पृक्त करके जीवन प्रदान करते हैं। हमारी आवश्यकतायें कहाँ से पैदा होती हैं ? उनका जन्म प्रकृति और हमारे बीच के सम्बन्ध द्वारा होता है। हम न हवा का निर्माण करते हैं, न फूल का, न अन्न का, न मनुष्य का, प्रत्युत् हम उस बिम्ब का निर्माण करते हैं जो हमें इन सभी वस्तुओं के सम्बन्ध से प्राप्त होता है। इन वस्तुओं के ज्ञान के लिये बिम्ब से बड़ा सत्य हमारे पास नहीं होता।

बिम्ब सबसे सरल शब्द है। सरल इस दृष्टि से कि रूपक, प्रतीक, विशेषण आदि में अर्थ की उतनी व्यापकता नहीं है। 'बिम्ब दर्पण में पड़ती हुई उस छाया की तरह है जिसमें हम अपने चेहरे की रेखाओं से अधिक उससे परे किसी सत्य को देखते हैं।'[1] सबसे सामान्य बिम्ब वह है जो 'दृश्य' होता है। एक उत्तम कोटि का बिम्ब दृश्य वस्तुओं के माध्यम से अन्य ज्ञानेन्द्रियों को भी रसप्लुत करता है। ऐन्द्रियता बिम्ब का सबसे पहला गुण है। यहाँ तक कि बौद्धिक स्तर पर निर्मित बिम्ब भी ऐन्द्रिय होता है। इसके आधार पर बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार बनायी जा सकती है—

'काव्यगत बिम्ब वह शब्दचित्र है जो ऐन्द्रिय गुणों से अनिवार्य रूप से समन्वित होता है।'

पर यह परिभाषा भी पूर्ण न हुई। क्योंकि कभी-कभी पत्रकार भी किसी समाचार को ऐसे संवेदनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं कि उसमें ऐन्द्रिय गुणों का समावेश हो जाता है। फिर काव्यगत बिम्ब और पत्रकार के बिम्ब में अन्तर क्या हुआ ? स्पष्ट ही एक पत्रकार के द्वारा वर्णित शब्दचित्र में वह 'संवेग' और 'वासना' नहीं होती जो उसे व्यक्तित्व प्रदान करती है। उसमें एक प्रकार की तटस्थता होती है जो उसे काव्यगत बिम्ब से भिन्न बनाती है। फिर कहा जा सकता है कि काव्यगत बिम्ब वह शब्द चित्र है जो 'संवेग' और 'वासना' से उद्रिक्त होता है। कालरिज ने कहा था—

'बिम्ब कितना भी सुन्दर हो, वह अपने आप में कवि की विशिष्टता तब

---

१ It looks out from a mirror in which life perceives not so much its face as some truth about it

—C Day Lewis . Poetic image, p 13

तक नहीं प्रकट करता जब तक शक्तिशाली 'वासना' से संयुक्त नहीं हो जाता।*

वस्तुतः मानवीय संवेग और काव्यात्मक वासना में भी अन्तर होता है। जब हम किसी रचना को पढ़ते हैं तो हमें जिस 'वासना' की अनुभूति होती है वह हमारी निजी वासना से भिन्न होती है। फिर प्रश्न हो सकता है कि क्यों हम किसी 'बिम्ब' से प्रभावित होते हैं? अपने यहाँ तो इसका उत्तर बड़ा सरल है—साधारणीकरण के द्वारा। पर पश्चिम के विचारकों ने तरह तरह से इसका समाधान निकाला है। जुंग ने उसे एक प्रकार की 'समत्व की स्थिति' (स्टेट आव बैलेंस) माना है जो आज के अधिकांश समालोचकों को मान्य है। पारिभाषिक पदावली की भिन्नता के अतिरिक्त अपने यहाँ के 'साधारणी-करण' और जुंग की 'समत्व' की स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नहीं है।

काव्यगत बिम्ब में ग्रहण में इस 'समत्व की स्थिति' के द्वारा जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसका कारण क्या है? टी० ई० ह्यूम ने चित्रों की ताजगी और संक्षिप्तता को इसका कारण माना है। पर हम ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बिम्ब से प्राप्त होनेवाले आनन्द के लिये इतना ही कारण अलम् नहीं है। कम से कम संक्षिप्तता तो उसका विशेष कारण नहीं ही है। वस्तुतः कुछ भी स्वतः सम्पूर्ण नहीं होता। कोई भी वस्तु अपने संदर्भ की पूरी सापे-क्षता में सत्य अथच आनन्ददायिनी होती है। मानव-हृदय की सघन अनुभूति और तीव्र संवेग कभी कभी अभिव्यक्ति की सीमा तोड़कर फैल भी जाता है और वह असंक्षिप्त लयात्मकता भी हमें आनन्द देती है। 'निराला' जी की बहुत सी लम्बी कवितायें इसका प्रमाण है।

अतः बिम्ब की संदर्भगत सापेक्षता और अंतरावलम्बन (इंटरडिपेन्डेन्स) की परीक्षा से ही हम उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर पा सकते हैं। सापेक्षता बिम्ब तथा रूपक की प्रकृति में ही निहित है। यदि हम कल्पना करें कि संसार एक विराट् शरीर है जिसमे सभी मनुष्य और पदार्थ एक दूसरे के प्रति सदस्यभाव से सम्बद्ध हैं तो इस रूपक के द्वारा हम एक बहुत बड़े अन्तर्निहित सत्य की व्यंजना करेंगे। प्रत्येक बिम्ब उस विराट् शरीर के एक बहुत छोटे भाग को अनावृत करता हुआ उसके सम्पूर्ण फैलाव को ध्वनित करता है। वस्तुतः यही पूर्णता की भावना हमें अभिभूत करती है। उसमें हम एक विशेष प्रकार की

---

*. Images, however beautiful...do not of themselves characterise the poet. They become proof of original genius only as far as they are modified by a predominant passion.

—From 'Coleridge on Imagination' p. 35.

व्यवस्था और लय पाते हैं जिसका सम्बन्ध हमारी धड़कनों की लय से होता है। इसके अतिरिक्त शब्द-संगीत, ऐन्द्रियता, तथा सहसा एक प्रस्तुत के साम्य से किसी अप्रस्तुत को पहचान लेना भी बिम्बगत आनन्द का रहस्य है। सिसिल डे लुइस ने बहुत ठीक कहा है कि 'काव्यगत बिम्ब स्वयं मानव-मन का ही दूसरा नाम है जो प्रत्येक जीवित अथवा मृत वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध की घोषणा करता है और इस घोषणा को अच्छी तरह सिद्ध भी करता है। †

काव्यगत बिम्ब के तीन प्रकार के गुण माने जाते हैं[१]—

(१) पूर्व स्मृति को जगा देने की शक्ति

(२) नवीनता

(३) तीव्रता

कोई भी सफल काव्यगत बिम्ब एक अदृश्य स्पर्श से हमारी पूर्व स्मृतियों को एक झटके के साथ जगा देता है। इस मर्म-स्पर्श के भीतर उसकी ताज़गी (फ्रेशनेस) जादू का काम करती है। चूँकि वह किसी गहरी मानवीय अनुभूति से उत्पन्न होता है अतः इसमें हमारे रागतन्तुओं को झंकृत कर देने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी का नाम तीव्रता है जो उसका सर्वोत्कृष्ट गुण है। इन तीनों गुणों के अतिरिक्त भी आलोचकों ने कुछ अन्य गुणों का उल्लेख किया है जो या तो इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं या इन्हीं में से किसी न किसी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं[२]—

(४) भास्वरता

(५) औचित्य

(६) उर्वरता

इसमें भास्वरता तो काव्यगत बिम्ब का अन्तर्निहित धर्म ही है। बिना इसके उसका आकर्षण छिप-सा जाता है। औचित्य अवश्य विचारणीय है। क्योंकि इसका सम्बन्ध बिम्ब की सदर्भगत सापेक्षता से है। इसका विचार ऊपर किया जा चुका है। उर्वरता की स्थिति नवीनता से अलग नहीं है। अतः उसका उल्लेख बहुत महत्त्व नहीं रखता। अब ऊपर वाले तीन गुण ही काव्यगत बिम्ब के विशिष्ट गुण ठहरते हैं। इन्हीं गुणों के कारण वह काव्य

---

†—The poetic image is the human mind claiming kinship with everything that lives or has lived and making good its claim (Poetic Image) p 25

१. 1) Evocativeness 2) Freshness 3) Intensity.

२ 4) Audacity 5) Congruousness 6) Fertility.

का प्राथमिक धर्म बन गया है। बिम्ब-रहित काव्य की हम कल्पना ही नहीं कर सकते। इन्हीं बिम्बों के अध्ययन से पता चलता है कि कविता आज भी प्राक्वैज्ञानिक भावनाओं के प्रति कितनी सच्ची है। काव्य में चिरकाल से बहुत से ऐसे चित्र प्रयुक्त होते आ रहे हैं जो आज भी नये-नये संदर्भों में हमारे लिये उतने ही जीवन्त हैं। इन चित्रों का ऐतिहासिक अध्ययन अत्यन्त मनो-रंजक होगा। इससे भी अधिक मनोरंजक अध्ययन इस बात का हो सकता है कि किस प्रकार काव्य में इन बिम्बों का मूल्य जीवन के बदलते मूल्यों के साथ बदलता जाता है। महाकवि कालिदास के हवन-धूमाच्छन्न तपोभूमि के चित्र हमें आज भी प्रभावित करते हैं। पर बहुत से उत्तर-कालीन संस्कृत कवियों के बिम्ब हमें आज उतना प्रभावित नहीं करते। इसका कारण मेरी समझ में यही है कि कालिदास के बिम्ब अधिक प्रकृत भूमिका पर निर्मित हुए थे। इसलिये उनमें आज भी उतनी ही ताजगी है। पीछे काव्यगत बिम्ब का निर्माण शुद्ध काव्य की भूमिका पर होने लगा। अतः उनकी नवीनता जाती रही।

एक विचित्र बात है कि काव्य मे बिम्बों का अन्तरावलम्बन भी उसी प्रकार चलता रहता है जिस प्रकार जीवन में संस्कृतियों का। सामान्यतया काव्य का आनन्द लेते समय हम इस बात को लक्ष्य नहीं कर पाते। पर थोड़ा रुक कर यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि से छानबीन करें तो निश्चय ही एक बहुत बड़े सत्य का उद्‌घाटन हो सकता है, जो सम्भव है हमारी संस्कृति की गुत्थियों को सुल-झाने में सहायक हो। उदाहरण के लिये साहित्य में यौन-बिम्बों को लिया जाय। आज अधिकाश यौन-बिम्ब जीवन के उच्चतर मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिये साहित्य में लाये जाते हैं। प्रायः उनके द्वारा आध्यात्मिक संकेतों का ग्रहण होता है। इसके विपरीत फारसी साहित्य तथा उससे प्रभावित उर्दू आदि मे आज आध्यात्मिक बिम्बों के माध्यम से लौकिक जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने का चलन सा हो गया है। अपने यहाँ की रीति-कालीन कविता में भी ऐसा पाया जाता है। यौन-बिम्बों का आध्यात्मिक मूल्यों के साथ यह परस्पर विनिमय कम आश्चर्य में डालने वाला नहीं है। बहुत सम्भव है, यह विनिमय किसी सांस्कृतिक अंतरावलम्बन का प्रतिफल हो।

आज काव्यगत बिम्ब का महत्त्व प्रायः सभी ने एक कंठ से स्वीकार कर लिया है। कवि कर्म की चरम सफलता इसी के निर्माण में देखी जाती है। एजरा पाउण्ड का तो यहां तक कहना है कि 'जीवन में बहुत से बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण करने की अपेक्षा एक ( सफल ) बिम्ब का निर्माण अधिक

श्रेयस्कर है।'[१] हर्बर्ट रीड ने बड़े जोर के साथ घोषित किया था कि 'हमें एक कवि को उसके बिम्बों की शक्ति और नवीनता के द्वारा मापने के लिये सदैव प्रस्तुत रहना चाहिये।'[२] इनसे बहुत पहले ड्राइडन ने भी बड़े बल के साथ इस सत्य का उद्घाटन किया था कि—'बिम्ब निर्माण अपने आप में कविता की ऊँचाई और उसका जीवन है।[३] सिसिल डे लुइस ने बिम्ब की महत्ता को इन शब्दों में आका है—'बिम्ब समस्त कविताओं का मौलिक विषय है और प्रत्येक कविता स्वय एक बिम्ब है। प्रवृत्तियाँ आती हैं, चली जाती हैं, काव्य की पदावलियाँ बदल जाती हैं, छन्दों की व्यवस्थाएँ परिवर्तित हो जाती हैं यहाँ तक कि काव्य की तात्त्विक विषय-वस्तु भी इतनी बदल जा सकती है कि वह पहचान में न आये—लेकिन बिम्ब सदैव वर्तमान रहता है।'[४] विलियम ब्लेक ने तो बिम्ब को ही सत्य माना है, उसके अतिरिक्त कोई सत्य ही नहीं—'प्रत्येक वस्तु, जिस पर विश्वास किया जा सकता है, वह सत्य का बिम्ब है।'[५]

इन थोड़े से आप्त प्रमाणों के आधार पर बिम्ब की महत्ता और व्यापकता का परिचय दिया गया है। अब हमारे विचार करने के लिये तीन बातें शेष रह गई हैं। पहली, बिम्ब निर्माण अथवा मूर्तिविधान की मानसिक प्रक्रिया, दूसरी, बिम्बों के प्रकार, और तीसरी, छायावादी कविता में पाये जाने वाले बिम्बों का वर्गीकरण। पहले हम बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया को लेते हैं। शुक्ल

---

१ It is better to present one Image in a life time, than to produce voluminous works

२ We should always be prepared to judge a poet—by the force and originality of his images

-Poetic Image, p 81

३. Imaging is in itself the very height and life of poetry.

४ The image is the content in all poetry and every poem is itself an image Trends come and go, diction alters, metrical fashions change, even the elemental subject-matter may change almost beyond recognition, but in metaphor remains the life principle of poetry, the poet's chief test and glory.

५ Everything possible to be believed is an image of truth

—Blake : Poetic Image, p. 99

जी ने उसे रूपविधान का नाम दिया है। वे इसी रूपविधान को सम्भावना या कल्पना कहते हैं। उनके अनुसार इसके तीन प्रकार हैं—

(१) प्रत्यक्ष रूपविधान
(२) स्मृति-रूपविधान
(३) कल्पित रूपविधान

पहला तो प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभव ही है। अतः उसका सम्बन्ध बाहरी रूपविधान से है। दूसरा, बाहरी रूपविधान के आधार पर स्मृति के द्वारा निर्मित होता है। हमारे मन में जो संस्कार रूप में बहुत से चित्र एकत्र रहते हैं उन्हीं का यथाक्रम स्मरण स्मृति रूपविधान है। स्मृति-गर्त में पड़ी हुई इन्हीं वस्तुओं के आधार पर कोई नया वस्तुव्यापार-विधान करना कल्पित रूपविधान है। प्राचीन कविता में स्मृति रूपविधान ही अधिक मिलता है और आधुनिक कविता में कल्पित रूपविधान। इतना अवश्य है कि स्मृति तथा कल्पित, दोनों प्रकार के रूपविधानों की सत्ता प्रत्यक्ष रूपविधान पर ही टिकी हुई है। अतः उसकी स्थिति अनिवार्य है। साहित्य के क्षेत्र में कल्पित रूपविधान का ही विचार होता है।

प्रत्यक्ष रूपविधान का काव्य के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। वह जीवन की बाह्य क्रिया से सम्बद्ध है। पर काव्य में उस 'वस्तु' का अध्ययन किया जाता है जो किसी संवेदनशील मानसिक प्रक्रिया से छनकर बाहर आती है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष रूपविधान का काव्य में वही महत्त्व हो सकता है जो कवि कल्पना में बाह्य यथार्थ का महत्त्व है। अब शेष बचे स्मृति और कल्पित रूपविधान। पहले के सम्बन्ध में शुक्ल जी का कहना है कि 'जब हम जन्मभूमि या स्वदेश का, बालसखाओं का, कुमार-अवस्था के अतीत दृश्यों और परिचित स्थानों आदि का स्मरण करते हैं, तब हमारी मनोवृत्ति स्वार्थ या शरीरयात्रा के रूखे विधानों से हटकर शुद्ध भाव क्षेत्र में स्थित हो जाती है। नीतिकुशल लोग लाख कहा करें कि 'बीती ताहि बिसारि दे', 'गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ ?'—पर मन नहीं मानता, अतीत के मधुस्रोत में कभी-कभी अवगाहन किया ही करता है। ऐसा स्मरण वास्तविक होने पर रसात्मक होता है।' स्मृति के दो भेद किये हैं—

१) विशुद्ध स्मृति। इसमें अतीत के दृश्यों का स्मरण अमिश्रित रूप में होता है। उसके लिये न तो किसी बाह्य साद्‌श्य की आवश्यकता होती है, न प्रतत्सादृश्य की। परन्तु केवल रति, हास, और करुणा से सम्बद्ध स्मृति ही काव्यक्षेत्र में आती है। इतर प्रसंग रस उत्पन्न करने में उतने समर्थ नहीं होते।

२) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान। इसमें प्रत्यक्ष का थोड़ा-सा अंश होता है अर्थात् यह एक प्रकार की मिश्रित स्मृति होती है जिसके लिये बाह्य सादृश्य आवश्यक है। किसी रम्य रूप को देखकर अथवा मधुर शब्द को सुन-कर जब हमें उसी के समान किसी सुपरिचित रूप अथवा स्वर की स्मृति हो आती है तो वह प्रत्यभिज्ञान कहलाती है। स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में भी रससञ्चार की बड़ी गहरी शक्ति होती है।

इन दोनों से अलग शुक्ल जी ने एक 'स्मृत्याभास कल्पना' का भी उल्लेख किया है जिसका उपयोग ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों में होता है। 'स्मृत्याभास कल्पना' से उनका तात्पर्य ऐसे रूपविधान (इमेजरी) से है जो किसी ऐतिहासिक स्थान अथवा भग्नावशेष को देखकर उसके पूर्वकालिक जीवित रूप की कल्पित धुन्धली छायाओं के आकार में हमारे मन के आगे उपस्थित होता है। इस 'स्मृत्याभास कल्पना' के भी दो रूप होते हैं। एक तो वह जिसका उल्लेख अभी-अभी किया गया है दूसरा वह है जो किसी आप्त शब्द अथवा इतिहास के आधार पर मन के भीतर अनुवादित हो जाता है। अशोक कालीन भारत का इतिहास पढ़ने वाले विद्यार्थी की कल्पना में जो बहुत से अस्पष्ट चित्र जाने अनजाने उभरते जाते हैं उनका आधार आप्त शब्द होता है। इन दोनों से अलग एक तीसरे प्रकार की भी 'स्मृत्याभास कल्पना' होती है जिसका आविर्भाव तब होता है जब हम किसी बिल्कुल अनजान स्थान में पहुँच जाते हैं जहाँ बहुत सी टूटी-फूटी दीवारें और कुछ पत्थर और ईंटें बिखरी हुई हैं। उस स्थान को देखकर जो एक विशेष प्रकार की संवेदना हमारे भीतर जागेगी वह निराकार नहीं हो सकती। कुछ धूमिल किन्तु अर्थ-गर्भ चित्र हमारी आँखों के सामने तैर जायेंगे। निश्चय ही उन चित्रों का आधार वह स्थान विशेष होगा, पर चूँकि हम उस स्थानविशेष से परिचित नहीं हैं, अतः यह स्थिति 'स्मृत्याभास कल्पना' की पहली कोटि से भिन्न हुई।

यह तो हुई स्मृति की चर्चा। अब रहा 'कल्पित रूपविधान'। शुक्ल जी इसे खाली 'कल्पना' कह कर पुकारते हैं। वे मानते हैं कि काव्य-वस्तु का सारा रूपविधान इसी की क्रिया से होता है। इसकी चर्चा हम 'कल्पना के कार्य' वाले अध्याय में कर आये हैं। शुक्ल जी भी काव्य में बिम्ब की स्थिति अनिवार्य मानते थे और उनका दृढ़ मत था कि बिना बिम्बग्रहण के रसनिष्पत्ति नहीं हो पाती। उन्हीं के शब्दों में 'काव्य की कोई उक्ति कान में पड़ते समय जब काव्य-वस्तु के साथ वक्ता या बोधव्य पात्र की कोई मूर्त्त भावना सी खड़ी रहती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।'

बिम्ब आते कहाँ से हैं? कवि की जीवनानुभूति से। कवि की अनुभूति

के दो मुख्य क्षेत्र होते हैं—जीवन तथा प्रकृति। जीवन के भी दो हिस्से होते हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बिम्ब का सम्बन्ध दोनों से है। जिस कवि या कलाकार का अनुभव क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा, उसके कल्पनाचित्र (बिम्ब) उतने ही उर्वर और नये होंगे। इसके लिये कवि के पास उस दृष्टि का होना भी अत्यन्त आवश्यक है जो प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं के आर-पार देख लेती है। आई० ए० रिचर्ड्स ने 'बिम्बनिर्माण' की क्रिया को 'एक अर्द्ध अन्धविश्वासमयी पद्धति' कहा है जिसके द्वारा विविध वस्तुओं का आकलन एक छोटी सी रचना के दायरे में हो जाता है। इस सम्बन्ध में टी० एस० इलियट की निम्नलिखित पंक्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—

'बिम्बनिर्माण का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा कवि के अध्ययन से आता है। उसका आविर्भाव उसके बचपन से लेकर अब तक के समस्त 'संवेदनशील जीवन' के भीतर से होता है। क्यों हमारे दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत जीवन से कुछ निश्चित बिम्ब ही भावोच्छ्वास के साथ उभरते हैं? एक चिड़िया का गीत, एक मछली की उछाल, एक फूल की गंध, जर्मनी के पहाड़ी पथ से उतरती हुई एक बूढ़ी औरत, फ्रांस के एक छोटे से रेलवे स्टेशन पर खुली खिड़की से देखे गये ताश खेलते छः आवारे—इन स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है। पर इनके बारे में हम कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि जिन गहरी अनुभूतियों के उपलक्षण बनकर ये आये हैं उनके भीतर झाँक सकने की सामर्थ्य हमारे पास नहीं है।'[१]

प्रकारान्तर से टी० एस० इलियट के शब्दों से भी वही ध्वनित होता है जो आई० ए० रिचर्ड्स की 'अर्द्ध अंधविश्वासमयी पद्धति' कहने से। निष्कर्ष यह निकला कि बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया एक ऐसे भावावेश से भरे क्षण की प्रक्रिया है जब हम लगभग अर्द्धचेतन की अवस्था में होते हैं और एक बार प्रतिबिम्बित हो जाने के बाद वह क्षण जीवन में फिर कभी नहीं आता। उस विशेष क्षण को जानने के लिये हमारे पास इन थोड़े से बिम्बों के अतिरिक्त कुछ नहीं होता।

बिम्ब जहाँ एक ओर काव्यगत 'भाव' को मूर्त्त रूप देता है, वहीं वह दूसरी ओर कभी कभी अर्थगत अस्पष्टता को बढ़ाने में भी सहायक हो जाता है। ऐसा तब होता है जब कवि के सामने कोई निश्चित वक्तव्य नहीं होता, वह केवल चित्रों की लम्बी शृंखला उपस्थित करके पाठक को आकृष्ट करना चाहता है। उस दशा में, किसी न किसी रूप में शिल्प ही प्रधान हो उठता

---

१—Selected Prose—edited by John Hayward, p. 95.

है, भाव दब सा जाता है। इसीलिये कविता की भाषा को 'स्पष्ट', 'घनीभूत' और 'समस्त' होना चाहिये। बिना इसके वह निश्चितता और सामर्थ्य नहीं आ सकती जो एक वैज्ञानिक को भाषा में होती है, न वह अनुभूतियों के बारीक छायान्तरों को व्यक्त करने में सक्षम हो सकती है। काव्यगत बिम्ब अथवा चित्र में उतनी ही ताजगी होनी चाहिये जितनी उस वस्तु में होती है जिसे हम पहली बार देखते हैं। कविता के एक छंद या चरण में आये हुए बिम्बों में एक अन्तर्निहित एकता का होना आवश्यक है। यदि आसपास कई बिम्ब परस्पर-स्वतन्त्र असम्बद्ध होंगे तो उनसे काव्य 'मूर्त' न होकर और अधिक उलझन को बढ़ाने वाला ही सिद्ध होगा। दो बिम्बों के मिलने से यदि कोई तीसरा बिम्ब उत्पन्न होता है तो उससे भावात्मक गठन खडित हो जाती है। होना यह चाहिये कि दोनों एक दूसरे की भावस्वरता और अर्थवत्ता को अपने सम्बन्धों से स्फुट करें। बिम्ब केवल वस्तु का 'चित्रण' या 'प्रतिबिम्बन' ही नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि वह अपनी सत्ता से कवि की किसी विशेष मनोदशा और दृष्टिकोण को भी सूचित करता है। सुन्दर आकर्षक होने से ही कोई बिम्ब कविता का अनिवार्य अंग नहीं बन जाता। कविता में उसको लाने से पहले दो बातें आवश्यक हैं। पहली कि वह अनिवार्यतः कवि के वक्तव्य को प्रेषित करने में सहायता पहुँचाये और दूसरी यह कि वह कविता में आये हुए अन्य बिम्बों से अपना सम्बन्ध प्रमाणित कर सके। इन दोनों शर्तों को पूरा करने के बाद ही कोई बिम्ब किसी काव्य का शोभावर्द्धक धर्म बन सकता है।

बिम्ब के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। वह वाक्य के किस भाग से सम्बद्ध होता है—इस बात की व्याख्या तरह-तरह से की गई है। मुख्यतया वाक्य के तीन भाग हो सकते हैं—संज्ञा, विशेषण और क्रिया। इनमें बिम्ब की स्थिति किसमें होती है—यह विचारणीय है। सामान्यतः वह कहीं भी, किसी भी रूप में हो सकता है। वह संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण अथवा क्रिया कुछ भी हो सकता है। विशेषरूप से उसकी सत्ता विशेषण और क्रिया में ही मानी जाती है। कारण यह है कि वाक्य के वैशिष्ट्य को जितना विशेषण और क्रियायें व्यंजित करती हैं, उतना संज्ञा नहीं। संज्ञा तथ्य और विशेषण तथा क्रिया क्रमशः भावना तथा प्राकृतिक या मानवीय चेष्टा को व्यक्त करते हैं। क्रिया से बिम्ब की गत्यात्मकता स्फुट होती है और विशेषण से उसकी विलक्षणता तथा वैशिष्ट्य। उदाहरण के लिये कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

विशेषण—

दूर उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील झंकार!

क्रियाविशेषण—

नत नयनों से आलोक उतर
कापा अधरों पर थर थर थर !

क्रिया—

भूकना सिड़ी शिशिर का श्वान!

इन पक्तियों में बिम्ब की स्थिति या तो विशेषण में है या क्रिया में। पहले छंद में 'नील' शब्द से एक धुधला-सा, अस्पष्ट चित्र हमारे सामने आता है जो दूर तक फैली हुई नीलिमा की निःशब्दता को व्यंजित करता है। 'झंकार' जैसे सूक्ष्म विषय को भी वह हमारी आँखों का विषय बना देता है। पन्त की कविताओं में इस तरह का विशेषण-विपर्यय बहुत मिलता है। इसी प्रकार दूसरे छंद में 'थर थर थर' इस क्रियाविशेषण से ही पूरा चित्र उभरता है जो आलोक की तरलता और गत्यात्मकता को व्यक्त करता है। तीसरी पंक्ति में 'भूकता' शब्द से इस पंक्ति का पूरा सौन्दर्य तथा उसकी मूर्तिमत्ता स्फुट होती है। 'भूकता' को हटाकर शेष पक्ति को पढ़िये। कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आयेगा। तात्पर्य यह कि बिम्ब निर्माण की श्रेष्ठता का अर्थ है नवीन, अर्थ-पूर्ण और प्रसंगगर्भ विशेषणों का आकलन तथा निश्चित, एकोन्मुखी, गत्वर क्रिया व्यापारों का आयोजन। जहाँ कोरे वस्तु-परिगणन से काम चलाया जाता है वहाँ काव्य का सर्वोत्तम गुण—'सगीतमय आनन्द बोध'—अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसीलिये विशेषण तथा क्रिया के अतिरिक्त जो चित्र होते हैं उनमें एक तरह की एकरसता और सिकुड़न होती है।

छायावादी कवियों ने बिम्बनिर्माण के लिये जो क्षेत्र चुने थे उनमें प्रकृति सबसे महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति के अतिरिक्त प्राचीन इतिहास, पुराण, धर्म तथा दर्शन आदि से गृहीत चित्र भी मिलते हैं। प्रसाद जी के चित्रों में अतीत के गाढे रगों का उभार स्पष्ट है। उन्होंने प्रायः प्राचीन सस्कृत कवियों के परम्परागत बिम्बों को एक नया रूप देकर आधुनिक साँचे में ढाल दिया है। इससे उनके बिम्बों में एक प्रकार का गहन 'क्लासिकल' रंग आ गया है। निराला के चित्रों में भावावेश और वासना का एक उद्दत प्रवाह मिलता है जो कभी-कभी बड़ी लम्बी सम्बन्धयोजना के कारण दुरूह और अस्पष्ट हो जाता है। निराला ने प्रकृति के भी प्रायः वे ही चित्र संकलित किये हैं जो सान्द्र तथा ओजस्वी हैं अथवा जिनमें तीव्र भावावेग को जगा सकने की क्षमता है। व्यापकता की दृष्टि से निराला के बिम्ब आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। अकेले निराला ही ऐसे हैं जिनकी कविताओं में अत्याधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्रों से गृहीत बिम्ब भी कभी-कभी

मिल जाते हैं। वैसे पन्त की नवीनतम कविताओं में भी इस तरह के चित्र मिल सकते हैं। परन्तु उनकी मर्मच्छवियों का सौंदर्य भावावेग या वासना की प्रेरकता में नहीं, चित्रण के कौशल में है। इसीलिये पन्त की कविताओं में विशेषणों का सौंदर्य हमारा ध्यान सबसे पहले आकृष्ट करता है। स्पष्ट है कि विशेषण पर दृष्टि रखने वाले कवि का ध्यान कर्म-सौंदर्य पर उतना नहीं जायेगा, जितना वस्तुओं के रंग, रूप, स्पर्श, गन्ध आदि पर। यही कारण है कि पन्त जी के बिम्बों में विस्तार उतना नहीं है जितनी सघनता। वैविध्य लाने के लिये उन्होंने प्रायः दुहरे ऐन्द्रिय चित्रों की योजना की है। ऐन्द्रियता और संक्षिप्तता की दृष्टि से पन्त के बिम्ब सबसे अधिक सफल कहे जा सकते हैं।

महादेवी जी की कविताओं का सौन्दर्य बिम्बों के संकलन में उतना नहीं है जितना प्रतीकों की ऐकान्तिकता और भाव की वैयक्तिक सघनता में है। उनकी कविताओं में दो प्रकार के बिम्ब प्रायः मिलते हैं जो समूची छायावादी परम्परा में पाये जा सकते हैं। पहले प्रकार के बिम्ब वे हैं जो प्रकृति अथवा कला से गृहीत हैं और दूसरे प्रकार के वे हैं जो वैदिक अध्ययन से प्राप्त किये गये हैं। दूसरे प्रकार के बिम्ब बहुत कम हैं। पर अपनी विरलता में भी वे अपनी चिरसंचित नवीनता और उर्वरता के कारण दूर से ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। जैसे—

> यह विरह की रात का कैसा सवेरा है!
>
> × × ×
>
> पंक-सा रथचक्र से लिपटा अंधेरा है।

रथचक्र से लिपटे हुए पंक की धारणा आज की नहीं है। पर इस चित्र में एक ऐसी ताजगी और संस्कार है जो हमारी ऐतिहासिक चेतना को जगाता है और इस प्रकार एक अनूठी व्यंजना से हमें अभिभूत कर लेता है। प्राचीन संस्कारों को जगाने वाले बिम्ब निराला में भी मिल जाते हैं। सामान्यत. छायावादी बिम्बों का क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं है। पर जिस क्षेत्र से ये बिम्ब ग्रहण किये गए हैं उसकी संदर्भगत सापेक्षता को काफी दूर तक उद्गजित 'करते हैं। विषय तथा मूलस्रोतों के आधार पर इनका वर्गीकरण किया जा सकता है। पर वह अधिक प्रत्यक्ष और स्थूल होगा। अत' भाव तथा बिम्बगत गुणों के भेद के आधार पर ही उनको ठीक-ठीक वर्गीकृत किया जा सकता है। वर्गीकरण की यह पद्धति अधिक वैज्ञानिक होगी।

अमेरिकन समीक्षक हेनरी वेल्स ने अपनी पुस्तक 'पोयटिक इमेजरी' (काव्यात्मक मूर्तिविधान) में इस आधार पर जो वर्गीकरण किया है वह

बहुत महत्त्वपूर्ण है।[१] यहाँ जो वर्गीकरण उपस्थित किया जा रहा है उसका आधार तो वेल्सकृत वर्गीकरण ही है, पर भारतीय काव्य-परम्परा तथा रूपविधान की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया है। इस वर्गीकरण के तीन आधार हैं—

१—बिम्ब के गुणधर्म
२—बिम्बगत अतरावलम्बन
३—साहित्य के बदलते हुए सौन्दर्यमूल्य

इन आधारों का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ हम छायावादी कविताओं की जातीय विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अपना वर्गीकरण उपस्थित करते हैं—

१—सज्जात्मक अथवा अलंकरण-प्रधान बिम्ब
२—उदात्त बिम्ब
३—संवेदनात्मक बिम्ब
४—वस्तुप्रधान बिम्ब
५—घनात्मक बिम्ब
६—विस्तार प्रधान बिम्ब
७—नादप्रधान अथवा संगीतप्रधान बिम्ब

इन सातों के अतिरिक्त कुछ ऐसे बिम्ब भी मिलते हैं जिन्हें किसी अलग वर्ग में न रखकर सामान्य रूप से एक के साथ रखना ही संगत जान पड़ता है—जैसे व्यंग्य, वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य आदि से प्रेरित बिम्ब।

१) **सज्जात्मक अथवा अलंकार प्रधान बिम्ब**—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता उनकी सजावट में होती है। इस प्रकार के बिम्बों के निर्माण में कल्पना रूपक अथवा इसी प्रकार के अन्य अलंकरणों के प्रतिबन्ध से बाधित रहती है। अत. इस वर्ग की विशेषता बिम्बों की उर्वरता या नवीनता में नहीं, परम्परा से प्राप्त रूपकों के सम्यक् निर्वाह में है। इसीलिए काव्य में इसका महत्त्व अन्य वर्गों की अपेक्षा कम माना जाता है। आंशिक रूप से इस वर्ग का सम्बन्ध संगीत प्रधान बिम्ब के साथ देखा जा सकता है। पर उसकी अपेक्षा यह अधिक व्यापक है, जब कि संगीत प्रधान बिम्ब की

---

१ a) The Decorative image b) The Sunken image c) The Violent image or Fustian d) The Radical image e) The Intensive image f) The Expansive image g) The Exuberant image.

सीमायें शब्दों के सम-विषम प्रयोगों तक ही रह जाती हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद का यह प्रसिद्ध छन्द लें—

बाधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से।

इसमें कवि परम्पराप्राप्त प्रतीकों के द्वारा एक ऐसा बिम्ब खड़ा करता है जो आपाततः नया लगता है। पर इसकी नवीनता किसी नये सत्य के उद्-घाटन में नहीं, पुराने चित्रों की सफल सम्बन्ध योजना में है। इसी प्रकार पंत की 'स्याही का बूँद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

अचानक यह स्याही का बूँद
लेखनी से गिर कर, सुकुमार
गोलतारा सा नभ से कूद—
साधने को क्या स्वर का तार
सजनि, आया है मेरे पास।

यह चित्र हृदय में किसी गहरी घनीभूत अनुभूति को नहीं जगाता, केवल स्याही की बूँद और गोलतारा के दूरान्वयी सम्बन्ध योजना से हमें चमत्कृत करता है। यहाँ कल्पना का कार्य सीमित होकर असंभव की संभव रूपयोजना में ही अटका रह गया है।

सज्जात्मक बिम्ब का सर्वोत्तम रूप वहाँ देखने में आता है जहाँ कवि पुराने प्रतीकों के द्वारा नये संदर्भ की पृष्ठभूमि में किसी सुन्दर-मनोरम चित्र का निर्माण करता है। पंतजी की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान।
तरुण विटपों से लिपट सुजान
सिहरतीं लतिका मुकुलित गात।

सज्जात्मक बिम्ब की सबसे बड़ी 'विशेषता' कला की विशेषता होती है, वस्तु की नहीं। इसी वस्तु और कला के पारस्परिक अनुपात से उसके विभिन्न स्तरों की पहचान हो सकती है।

२) उदात्त बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता भाव तथा वस्तु के ऐसे चित्रण में है जिससे ओज की व्यंजना होती है। इसके द्वारा परुष

विषम तथा असाधारण भावों का ही चित्रण हो सकता है। वस्तुतः यह प्राचीन भाव प्रधान नाटकों का ही एक आधुनिक काव्यात्मक रूप है। कामायनी के प्रथम सर्ग का पहला ही छन्द इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष भींगे नयनों से
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

इसका औदात्य चित्र की असाधारणता में है, आकस्मिक भावोच्छ्वास में नहीं। इस असाधारणता के साथ जब भावाकुल हृदय-तरंगों का मेल हो जाता है तो उसका रूप कुछ इस प्रकार हो जाता है—

शत घूर्णावर्त, तरङ्ग-भंग, उठते पहाड़
जल राशि राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध, प्रतिसध धरा, हो स्फीत वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शतवायु वेग-जल, डुबा अतल में देश-भाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव।

(निराला: राम की शक्तिपूजा)

कभी-कभी इस प्रकार के उदात्त बिम्बों के द्वारा उच्च भाव के धरातल पर किसी व्यापक सत्य की ओर संकेत भी मिलता है जैसे पंत की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ—

भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य-भूति के मेघाडम्बर,
अये, एक रोमाञ्च तुम्हारा दिग्भूकम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों से उडगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत, कर शत शत मन
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन!
दिग्पिंजर में बद्ध गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु-गर्जन!

२) संवेदनात्मक बिम्ब—इस वर्ग के बिम्ब कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। बिम्ब की प्रकृति के विवेचन में बताया गया है कि ऐन्द्रियता मूर्तिविधान की अनिवार्य विशेषता है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक ऐन्द्रिय बिम्ब 'संवेदनात्मक' होता है। परन्तु यहाँ 'संवेदनात्मक

शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है। प्रत्येक बिम्ब संवेदनात्मक हो सकता है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसका आधार विशुद्ध सवेदना ही हो। सवेदनात्मक बिम्ब की यही विशेषता है और इसीलिये वह सामान्यतः कुछ भावात्मक और अस्पष्ट होता है। रोमान्टिक कविता का यह अपना क्षेत्र है और प्रायः रहस्यप्रधान रचनाओं में इस प्रकार के बिम्ब अधिकता से पाये जाते हैं। इसकी सबसे बड़ी पहचान यह है कि पढ़ते समय इसका कोई स्पष्ट चित्र हमारे सामने नहीं आता, एक धुँधला-धुँधला सा भाव ही हमारी पकड़ में आता है। प्रसाद जी की निम्न पंक्तियाँ लीजिये—

सुख, केवल सुख का वह सग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना।
छायापथ में नव तुषार का—
सघन मिलन होता जितना।

इन पक्तियों को पढ़ने पर केन्द्रीभूत सुख की अस्पष्ट अनुभूति भर हमें होती है, 'छायापथ में नव तुषार के सघन मिलने' से भी उसकी कोई स्पष्ट मूर्ति हमारे सामने नहीं आती। पर ऐसा भी नहीं है कवि की अनुभूति की प्रेषणीयता किसी तरह कहीं बाधित होती हो। वह सीधे हमारे मर्म का स्पर्श करती है। हमारा ऐन्द्रियबोध उसके रसास्वादन से तृप्त होता है। अतः यह मानना होगा कि अस्पष्ट ही सही, पर इन पक्तियों के द्वारा कोई न कोई बिम्ब हमारे अन्तःकरण में उपस्थित अवश्य होता है। कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं—

छायापथ में छाया से चल
कितने आते-जाते प्रतिपल,
लगते उनके विभ्रम इगित
क्षण में रहस्य, क्षण में परिचित।

(महादेवी वर्मा)

और पत जी का निम्न छद—

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी।

(छाया)

उपर्युक्त दोनों छंद हमें कोई अनुभूति देना चाहते हैं जो बहुत गहरी और तीव्र है, इसलिये स्पष्ट और अबाध है, पर उसे बाधने के लिये जिस रूप-

विधान की योजना की गई है वह धूमिल और अस्पष्ट है। यह धूमिलता ही इसकी विशेषता है जिसके भीतर से हृदय की उज्ज्वल कांति (अनुभूति) छिपाये नहीं छिपती। कभी-कभी संवेदनात्मक बिम्ब की रेखायें घनात्मक बिम्ब की सीमाओं को छूती-सी लगती हैं। पर ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि दोनों में स्पष्ट अन्तर है। घनात्मक बिम्ब अनिवार्य रूप से पाठक के सामने कोई न कोई मूर्ति खड़ा करता है, जिसकी रेखायें काफी स्पष्ट होती हैं।

४) वस्तुप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्ब छायावादी कविता में बहुत अधिक नहीं पाये जाते। कारण, कल्पना-प्रधान काव्य में इनके लिए स्थान कम-से-कम होता है। इनकी विशेषता है यथार्थ की दृढ़-मांसल रेखाओं का कलात्मक मूर्तीकरण। पर, वे रेखायें 'फोटोग्रैफिक' न हो जायँ, इसके लिये किसी तीव्र संवेदना का होना आवश्यक है।

निराला जी की कविता है—

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर,
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन प्रिय कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार बार प्रहार
सामने तरु-मालिका, अट्टालिका, प्राकार।

चित्र की एक भी रेखा, एक भी रंग का उभार ऐसा नहीं है जो हमें विषय-वस्तु से कहीं दूर ले जाता हो। जो, जितना, जहाँ है, कवि ने उसी को गहरी मानवीय संवेदना में डुबोकर पाठक के सामने ज्यों का त्यों रख दिया है। छायावादी कविता में इस तरह के उदाहरण बहुत नहीं मिलते। 'कामायनी' का एक छन्द है—

अवयव की दृढ मांस पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

(चिन्ता सर्ग)

ऊपर से देखने पर लग सकता है कि इन पंक्तियों में सीधा-सीधा तथ्य कथन भर कर दिया गया है। पर बात ऐसी नहीं है। फिर इस सीधी बात में

वह शक्ति कहाँ से आती है जो हमें प्रभावित करती है ? उसका सम्बन्ध विषय के असाधारणत्व से है—एक असाधारण विषय की अभिव्यक्ति असाधारण भाव-संयम के साथ की गई है। यही इस चित्र की प्रभविष्णुता का रहस्य है।

वस्तु-प्रधान बिम्ब की सीमायें कभी उदात्त और कभी नादानुरंजित बिम्ब की सीमाओं को छूती हुई भी दिख जाती हैं। पर गहरे उतर कर उनका अंतर देखा जा सकता है। नाद या संगीत प्रधान बिम्ब वस्तु चित्रण को उतना महत्त्व नहीं देता जितना लय या ध्वन्यात्मकता को। उदात्त बिम्ब के लिये भी वस्तु चित्रण उतना आवश्यक नहीं है, जितनी प्रभावोत्पादकता। वस्तुतः वस्तुप्रधान बिम्ब प्राचीन कविता—क्लासिकल काव्य—की विशेषता है। रोमांटिक कविता से उसका दूर का सम्बन्ध है।

५) घनात्मक बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों की विशेषता अनुभूति की गहन अभिव्यक्ति और असाधारण कला-कौशल में होती है। संवेदनात्मक बिम्ब के पास पड़ने के कारण इसको पहचानने में कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती है। वस्तुतः घनात्मक बिम्ब की भूमि चित्रकला तथा मूर्तिकला के अधिक उपयुक्त है। कभी-कभी इस वर्ग के चित्रों में एक प्रकार के रहस्य और लोकोत्तरता की भावना भी मिल जाती है। सूर, बिहारी तथा घनानन्द के चित्रों में इस वर्ग की विशेषतायें पाई जा सकती हैं। कुल मिलाकर इस प्रकार के बिम्बों का सौन्दर्य 'पेन्टिंग' अथवा चित्रण कुशलता में ही होता है। पंत जी की रचनाओं में इसी वर्ग का प्राधान्य है—

चंचल पग दीप शिखा के धर
गृह-मग वन में आया वसन्त,
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौंदर्य शिखाओं में अनन्त !

अथवा

फिर परियों के बच्चे-से हम,
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में—
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

उपर्युक्त दोनों छन्दों में सुलगते हुए फागुन के सूनेपन तथा शुचि ज्योत्स्ना में पैरते हुए घनखण्डों का आकलन जिस पद्धति पर हुआ है वह स्पष्टतः चित्रकला के निकट दीख पड़ती है। भावों का संयम, इकहरी अनुभूति, दृश्य आकारों की प्रधानता आदि इस वर्ग की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। प्रसाद, निराला तथा महादेवी में भी इस प्रकार के चित्र पाये जा सकते

हैं। पर जैसा कहा गया है, इस वर्ग के चित्रों के धनी पंत हैं। प्रसाद में संवेदनात्मक चित्रों की प्रधानता है पर कभी-कभी उनमें घनात्मक बिम्ब भी मिल जाते हैं। जैसे—

अम्बर असीम अंतर में
चञ्चल चपला-से आकर,
अब इन्द्र धनुष-सी आभा
तुम छोड़ गये हो जाकर!

ध्यान से पढ़ने पर दीखेगा कि प्रस्तुत चित्र केवल रंगों की दृश्यता के आधार पर घनात्मक हो उठा है। मूलतः आकारगत अस्पष्टता के कारण वह संवेदनात्मक ही अधिक है। परन्तु चञ्चला और इन्द्र धनुष के पारस्परिक सम्बन्ध से उसमें एक सूक्ष्म आकारगत अंतरावलम्बन भी दीखता है जो उसे घनात्मक बिम्ब का रूप देता है।

६) विस्तारप्रधान बिम्ब—इस वर्ग का वैशिष्ट्य भावों के प्रसार तथा बिखराव में होता है। भावप्रधान कविताओं में इस तरह के चित्र बहुत मिलते हैं। आवश्यक नहीं कि इस वर्ग के बिम्ब केवल सुन्दर तथा आकर्षक रंग-रूपों का ही आधार ग्रहण करें। उनमें कभी-कभी भयंकर और वीभत्स रूपों की भी अभिव्यक्ति होती है। इस वर्ग की सीमायें प्रायः वस्तुप्रधान बिम्ब की सीमाओं को स्पर्श करती दीखती हैं। परन्तु गहरे उतर कर देखने पर स्पष्ट दीखेगा कि विस्तार-प्रधान बिम्ब का आधार 'वस्तु' उतना नहीं, जितना 'भाव' है, जबकि वस्तु-प्रधान बिम्ब का आधार अनिवार्यतः 'वस्तु' ही होती है। निराला तथा प्रसाद में इस वर्ग के बिम्बों का सौन्दर्य देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये प्रसाद जी का यह पद लिया जा सकता है—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल।
वह विश्वमुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक से दृग, देते अनुराग-विराग ढाल

*　　*　　*

था एक हाथ में कर्मकलश वसुधा जीवन रस सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये,
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक-वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल

बुद्धिरूपा इड़ा का चित्र उपस्थित करने के लिये इतनी विराट् पटभूमि ग्रहण की गई है। इन पंक्तियों में आये हुए वस्तुओं के चित्र अथवा नाम अपने आप में कोई सत्ता नहीं रखते। वे वस्तुतः इड़ा के भावरूप को ही स्पष्टता तथा भास्वरता प्रदान करते हैं। पुराने कवियों में तुलसी, देव, भूषण

आदि में इस प्रकार के बिम्बों को देखा जा सकता है। विस्तार-प्रधान बिम्बों का क्षेत्र महाकाव्य अथवा कथात्मक काव्य होता है, गीति काव्य नहीं।

७) नादप्रधान अथवा संगीतप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों का ग्रहण छंद के नाद-सौन्दर्य से होता है। यह विचित्र बात है कि दृश्य चित्रों को और अधिक गाढ़ा रंग देने में शब्दों का संगीत भी किसी न किसी रूप में सहायता पहुँचाता है। दृष्टि और श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध का जो महत्त्व व्यावहारिक जीवन में होता है, वही काव्य में भी देखा जाता है। छायावादी कविता में इस वर्ग के चित्र बहुत नहीं पाये जाते। वस्तुतः यह चारणकाव्य का गुण है। अंगरेजी के मिल्टन आदि कवियों में नादप्रधान चित्रों का उत्कर्ष देखा जा सकता है। निराला और पंत की कुछ कविताओं में नादप्रधान बिम्बों का प्राधान्य मिलता है। 'राम की शक्तिपूजा' का तो आरम्भ ही नाद-सौन्दर्य से होता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर—
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशेल संवरणशील, नीलनभ गर्जित स्वर,
प्रतिपल परिवर्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह
राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि विषम हूह।

सामान्यतः देखा जाय तो नादानुप्रेरित अर्थ के अतिरिक्त कोई वस्तुगत अर्थ पकड़ में नहीं आयेगा। परन्तु कवि जिस ओजपूर्ण वातावरण की सृष्टि करना चाहता है उसको उपस्थित करने में ये चित्र पूरी तरह समर्थ हैं। नाद-प्रधान चित्रों की सीमा यह है कि उनका उपयोग केवल विराट्, अद्भुत तथा अपरूप वस्तुओं के वर्णन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी वर्ण्य की ऊँचाई, फैलाव तथा विस्तार को सूचित करने के लिये नादप्रधान बिम्बों का उपयोग किया जाता है। जैसे पंत की निम्न पंक्तियों में—

वे डूब गये, सब डूब गये—
दुर्दम, उदग्रशिर, अद्रिशिखर।

दूसरी पंक्ति में आये हुए विशेषणों में केवल रूपगत असाधारणता ही नहीं है, एक उदात्त संगीत का आलोड़न भी है। यदि इन विशेषणों में केवल असाधारणता ही होती और नादसौन्दर्य की प्रधानता न होती तो वे उदात्त बिम्ब के अधिक निकट होते। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि उदात्त बिम्ब में वस्तु की असाधारणता होती है और नादप्रधान बिम्ब में संगीत की।

संक्षेप में यहाँ छायावादी सम्मूर्त्तनविधान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन

प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त भी बिम्ब निर्माण की कई ऐसी कोटियाँ हो सकती हैं जिनका उल्लेख इस वर्गीकरण में नहीं हो सका है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूर्त्ति, बिम्ब अथवा शब्दचित्र कल्पना के व्यापार के अन्तर्गत आते हैं और काव्य को अधिक ग्राह्य एव प्रत्यक्ष बनाते हैं। मनुष्य की ऐन्द्रियचेतना को तृप्त करना तथा उसकी रागतंत्रियों को झंकृत करना बिम्ब का ही कार्य है। इस दृष्टि से छायावादी कविता में ऐन्द्रियता तथा मूर्तिमत्ता की प्रधानता है।

---

आदि में इस प्रकार के बिम्बों को देखा जा सकता है। विस्तार-प्रधान बिम्बों का क्षेत्र महाकाव्य अथवा कथात्मक काव्य होता है, गीति काव्य नहीं।

७) नादप्रधान अथवा संगीतप्रधान बिम्ब—इस वर्ग के बिम्बों का ग्रहण छंद के नाद-सौन्दर्य से होता है। यह विचित्र बात है कि दृश्य चित्रों को और अधिक गाढ़ा रंग देने में शब्दों का संगीत भी किसी न किसी रूप में सहायता पहुँचाता है। दृष्टि और श्रुति के पारस्परिक सम्बन्ध का जो महत्त्व व्यावहारिक जीवन में होता है, वही काव्य में भी देखा जाता है। छायावादी कविता में इस वर्ग के चित्र बहुत नहीं पाये जाते। वस्तुतः यह चारणकाव्य का गुण है। अंगरेजी के मिल्टन आदि कवियों में नादप्रधान चित्रों का उत्कर्ष देखा जा सकता है। निराला और पंत की कुछ कविताओं में नादप्रधान बिम्बों का प्राधान्य मिलता है। 'राम की शक्तिपूजा' का तो आरम्भ ही नाद-सौन्दर्य से होता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र पर लिखा अमर—
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण शर-विधृत-क्षिप्र-कर वेग-प्रखर,
शतशेल संवरणशील, नीलनभ गर्जित स्वर,
प्रतिपल परिवर्तित व्यूह, भेद-कौशल-समूह
राक्षस विरुद्ध प्रत्यूह-क्रुद्ध-कपि विषम हूह।

सामान्यतः देखा जाय तो नादानुप्रेरित अर्थ के अतिरिक्त कोई वस्तुगत अर्थ पकड़ में नहीं आयेगा। परन्तु कवि जिस ओजपूर्ण वातावरण की सृष्टि करना चाहता है उसको उपस्थित करने में ये चित्र पूरी तरह समर्थ हैं। नाद-प्रधान चित्रों की सीमा यह है कि उनका उपयोग केवल विराट्, अद्भुत तथा अपरूप वस्तुओं के वर्णन में ही किया जा सकता है। कभी-कभी वर्ण्य की ऊँचाई, फैलाव तथा विस्तार को सूचित करने के लिये नादप्रधान बिम्बों का उपयोग किया जाता है। जैसे पंत की निम्न पंक्तियों में—

वे डूब गये, सब डूब गये—
दुर्दम, उदग्रशिर, अद्रिशिखर।

दूसरी पंक्ति में आये हुए विशेषणों में केवल रूपगत असाधारणता ही नहीं है, एक उदात्त संगीत का आलोडन भी है। यदि इन विशेषणों में केवल असाधारणता ही होती और नादसौन्दर्य की प्रधानता न होती तो वे उदात्त बिम्ब के अधिक निकट होते। परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि उदात्त बिम्ब में वस्तु की असाधारणता होती है और नादप्रधान बिम्ब में संगीत की।

संक्षेप में यहाँ छायावादी सम्मूर्चनविधान की कुछ विशेषताओं का अध्ययन

प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त भी बिम्ब निर्माण की कई ऐसी कोटियाँ हो सकती हैं जिनका उल्लेख इस वर्गीकरण में नहीं हो सका है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूर्त्ति, बिम्ब अथवा शब्दचित्र कल्पना के व्यापार के अन्तर्गत आते हैं और काव्य को अधिक ग्राह्य एव प्रत्यक्ष बनाते हैं। मनुष्य की ऐन्द्रियचेतना को तृप्त करना तथा उसकी रागतन्त्रियों को झंकृत करना बिम्ब का ही कार्य है। इस दृष्टि से छायावादी कविता में ऐन्द्रियता तथा मूर्तिमत्ता की प्रधानता है।

---

## ६

# प्रतीक-योजना

'मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है'—इस वाक्य को सुनकर हमारे सामने कोई मानवमूर्ति नहीं खड़ी होती। हम 'मानव' के माध्यम से उस अदृश्य शक्ति को अनुभव करते हैं जो 'सृजनात्मक' है। 'सृजनात्मक शक्ति' क्या है? हम नहीं जानते। हमने उसे देखा नहीं। हमने उसका स्पर्श नहीं किया। हम उसके आकार से अपरिचित हैं। पर जब हम किसी से सुनते हैं कि 'मानव सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है' तो, यद्यपि हमारे सामने उसका कोई स्पष्ट रूप नहीं आता, फिर भी उस 'शक्ति' को हम बहुत दूर तक अपने भीतर अनुभव कर लेते हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि उपर्युक्त वाक्य में 'मानव' शब्द का अर्थ गौण है, प्रधान वह अदृश्य 'सृजनात्मक शक्ति' है जिसकी व्यंजना 'मानव' की स्थूल सत्ता के द्वारा हो रही है। तात्पर्य यह कि 'मानव'-प्रतीक के द्वारा हम किसी अधिक सूक्ष्म और अदृश्य सत्ता को जानने का प्रयत्न करते हैं। सभी प्रकार के प्रतीकों की यही विशेषता है। मनुष्य के भाव-लोक में बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जिन्हें हम सामान्य व्यवहार की भाषा अथवा स्थूलाश्रयी बिम्बों के माध्यम से नहीं व्यक्त कर सकते। ऐसे सूक्ष्म तथा अर्द्धस्पष्ट भावों के लिये मनुष्य प्रतीकों की सृष्टि करता है। मानव-सभ्यता के विकास में प्रतीकों का उतना ही योग है जितना हमारे जैवो विकास में सूर्य अथवा जल का।

'प्रतीक' बहुत व्यापक शब्द है। इस का प्रयोग सामान्य रूप से तर्क-शास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान, गणितशास्त्र, तथा ज्योतिष में होता है। धार्मिक क्षेत्र में तो उसका अत्यधिक महत्त्व है। यह महत्त्व इस सीमा तक बढ़ गया है कि आज की अँग्रेजी में 'सिम्बल' शब्द धर्म अथवा सम्प्रदाय (क्रीड) का पर्याय-सा बन गया है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीकों का प्रयोग अलग अलग ढग से होता है। बीजगणित के प्रतीक रूढ़ होते हैं। धार्मिक प्रतीक 'संकेत' तथा 'सांकेतिक' के तात्त्विक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। साहित्य तथा कला में प्रतीकों का प्रयोग अधिक स्वच्छन्द रूप में होता है। वहाँ भी वह किसी सूक्ष्म भाव-सत्ता का ही प्रतिनिधित्व करता है। पर वहाँ उसकी अपनी सत्ता भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में 'प्रतीकवाद

नाम से एक आन्दोलन भी चल चुका है जिसका उद्देश्य था ऐन्द्रिय स्वप्न-प्रतीकों के द्वारा किसी अतीन्द्रिय सत्य की ओर संकेत करना।

भाषा प्रतीकों से बनती है, वह निष्क्रिय रूप से ग्रहण किये हुए बाह्य यथार्थ के सांकेतिक नामों का समुच्चय नहीं है। भाषा स्वयं एक रचनात्मक प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति योग देता है। इस दृष्टि से कोई भी शब्द केवलमात्र एक सूचनात्मक बिल्ला नहीं है जो किसी भी वस्तु पर चिपका दिया जाय। वह सापेक्ष रूप से अर्थवान होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति जीवन की अर्थभूमि से होती है। अतः प्रतीक कोई 'वस्तु' नहीं वह एक विराट् रचनात्मक प्रक्रिया में पड़ने वाला ऐसा बिन्दु है जो किसी पदार्थ को 'एक निश्चित वस्तु' के रूप में परिचित कराता है। ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक प्रतीक सापेक्ष महत्त्व रखता है। वह उस विशेष परिस्थिति को अभिव्यक्त करता है जिसमें वह रह चुका है और उस परिस्थिति विशेष से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं, कोई अर्थ नहीं। इसीलिये अधिकांश प्रतीकों की व्यंजकता देशकाल की सीमाओं से बाधित होती है।

कहा जाता है कि आदिम मनुष्य शब्द को वस्तु से अलग करने की चेतना नहीं रखता था। वस्तुतः उसके लिये प्रतीक अथवा शब्द उसकी जीवनपद्धति से अलग थे ही नहीं। जिस प्रकार, जिस परिस्थिति में, जिस सुख-दुख के साथ वह जी रहा था, प्रतीक भी उसका सहभोक्ता था। सूर्य, चन्द्र, वरुण, उषा वृक्ष, पर्वत, अग्नि और मेघादि उसके नित्य सहचर थे। आदिम मनुष्य उनको अलग-अलग व्यक्तित्व के रूप में पहचानता था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह अपने पुत्र अथवा भाई को पहचानता था। फलतः उसके प्रयोगों में इन प्रतीकों के अर्थ उतने ही परिचित और क्रमशः निश्चित होते गये जितना निश्चित अर्थ किसी परिचित व्यक्ति अथवा परिजन का होता है। तात्पर्य यह कि प्रतीक जीवन के प्रवाह में स्नात होकर अर्थ प्राप्त करते हैं। यथार्थ जीवन के साहचर्य से ही उनमें अर्थ बढ़ते या बदलते हैं। मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभव से असम्पृक्त रह कर न तो उनमें अर्थ आता है, न व्यक्तित्व। बच्चा पहले पहल जब कोई शब्द सुनता है तो उसकी कल्पना उस परिस्थिति-विशेष के अनुरूप ही उसका अर्थ निश्चित करती है। शब्दकोश में पढ़े हुए शब्दों का अर्थ हम तभी ठीक-ठीक जान पाते हैं जब किसी विशेष अवसर पर उनके प्रयोग से परिचित हो जाते हैं। उसके पहले उस शब्द का अर्थ हमारे मस्तिष्क में स्पष्ट नहीं होता।

प्रतीक किसी संदर्भ में प्रयुक्त होता है। संदर्भ विषय वस्तु का होता है। वह विशेष अथवा सामान्य, किसी भी प्रकार का हो सकता है। वक्तव्य विषय

अनिवार्य रूप से उस सदर्भ से बधा होता है। अतः प्रतीक व्यापार एक सुनिश्चित अर्थ-परम्परा और भावविकास का अङ्ग है। सामान्यत. प्रतीक और 'मिथ' दोनों ही जातीय चेतना से उत्पन्न हैं। पर साहित्य तथा कला के क्षेत्र में कभी कभी व्यक्तिगत प्रतीकों के द्वारा भी मानवीय अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दी जाती है। वहाँ वह धीरे-धीरे व्यापक प्रयोगों में आवृत्ति के द्वारा निश्चित अर्थ ग्रहण करता है। प्रतीक और 'मिथ' का अन्तर इस बात में है कि आरम्भ में प्रतीक का निर्माण सार्वभौमिक स्तर पर होता है और धीरे-धीरे वह विशेष वस्तु, सम्बन्ध, घटना अथवा सस्था का बोधक बन जाता है। 'मिथ' का निर्माण, इसके विपरीत, आरम्भ में 'विशेष' के रूप में होता है और आगे चलकर वह व्यापक प्रयोग का अङ्ग बन जाता है अर्थात् 'सामान्य' का बोधक बन जाता है। प्रेषणीयता की दृष्टि से प्रतीक 'मिथ' की अपेक्षा अधिक सहज और शक्तिशाली होता है।

समाज में प्रतीक का स्थान क्या है—इस पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। सम्भवतः प्रतीकों का प्रयोग उतना ही पुराना है जितना स्वय समाज। समाज क्या है? वह केवल व्यक्तियों का समूह नहीं, एक प्रकार की मौलिक एकता है। इस 'एकता' की व्याख्या किस प्रकार की जाय? औपम्य विधान, बिम्ब, अलंकार आदि जितनी भी कल्पनात्मक पद्धतियाँ हैं, सबकी सब इसकी व्याख्या करने में असमर्थ हैं। आदिम मनुष्य ने शताब्दियों पहले अपनी मौलिक एकता की अभिव्यक्ति के लिये प्रतीकों का आविष्कार कर लिया था। आज उसकी वे प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ हमारे पास गाथा अथवा पुराण के रूप में सुरक्षित हैं।

आदिम मनुष्य के प्रतीक भावों को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त चिह्न-मात्र होते थे। धीरे-धीरे चित्रलिपि, भावलिपि और वर्णमालात्मक लिपि के रूप में क्रमश. उनका विकास हुआ। वस्तुत. इतिहास के अन्धकार युग में वह आदिम मनुष्य ही था जिसने प्रतीकों की सृष्टि करके भावी मानव-सभ्यता की नींव रक्खी थी। आज हमारे धार्मिक अनुष्ठान में प्रयुक्त होनेवाले बहुत से चिह्न प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं। उदाहरण के लिये 'शून्य' पूर्णता का प्रतीक है। स्वस्ति का चिह्न 'अनन्त' का प्रतीक है, क्योंकि उसके छोर एक असीम अवकाश में घूमते-से दीखते हैं, पर कभी एक दूसरे को छूते नहीं। विष्णु का सुदर्शन चक्र सृष्टि की अनवरत परिक्रमा का प्रतीक है, क्योंकि उसकी गति कभी भी अवरुद्ध नहीं होती। सरस्वती की वीणा सगीत-कला का, पुस्तक साहित्य का और हस विवेक का प्रतीक है। इसी प्रकार चतुष्क, मडल, कमल, वृक्ष, जल, अग्नि आदि का प्रयोग भी प्रतीकवत् होता है। मिस्र देश

में पिरामिड स्थायित्व का प्रतीक माना जाता है और अपने देश में स्तूप का भी बहुत कुछ वही प्रतीकात्मक अर्थ होता है। भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष के मस्तक पर पाया जाने वाला तिलक भी पवित्रता तथा धर्म-भावना का प्रतीक होता है।

नृत्यरत शिव—नटराज—का प्रतीक भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ा अर्थ और महत्त्व रखता है। नटराज शङ्कर अपने युगनद्ध रूप में नारी तथा पुरुष तत्त्वों को व्यंजित करते हैं। सिंह-चर्म से आवेष्ठित उनका ताण्डव नृत्य हमारे जीवन और संस्कृति के एक बहुत बड़े सत्य का व्यक्त करता है। सिंह-चर्म मानव की दृप्त वासना का प्रतीक है। शङ्कर की ग्रीवा से लिपटा हुआ सर्प सांसारिक रागद्वेष तथा माया का प्रतीक है। उनके चरणतल में पड़ा हुआ दानव, आसुरी शक्तियों पर मनुष्य की चिरन्तन विजय का प्रतीक है। उनके हाथ में हिलता हुआ डमरू जगत की व्यवस्था और लय (रिद्म) का प्रतीक है। उनका उठा हुआ दक्षिण हस्त लोक कल्याण और अभयदान का प्रतीक है। भारतीय कला की यह विशेषता है कि उसके प्रतीक सदैव 'समष्टिमानव' की भावना को जाग्रत करते हैं। शङ्कर का यह देशकाल विच्छिन्न नृत्य सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय, प्रलय और उत्पत्ति की अनन्तता का प्रतीक है। उनका त्रिशूल इस समस्त प्रपञ्च के भीतर संतुलन और व्यवस्था को बनाये रखने वाले आध्यात्मिक तत्त्व तथा विवेक का प्रतीक है। इसी प्रकार समस्त पौराणिक चरित्रों तथा कथानकों की प्रतीकात्मक व्याख्या की जा सकती है।

प्रश्न यह है कि प्रतीक में शक्ति कहाँ से आती है? वस्तुतः प्रतीकों की शक्ति हमारे जातीय अनुभव की शक्ति है। प्रतीक सामूहिक भाव-परम्परा के स्मृति चिह्न हैं। प्रत्येक पीढ़ी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार नये-नये प्रतीकों की सृष्टि करती है, पुराने प्रतीकों को नये अर्थ देती है और कुछ अर्थभ्रष्ट प्रतीकों को छोड़ देती है। प्रतीकों के इस स्वरूपगत तथा मूल्यगत परिवर्तन में प्रत्येक युग की अपनी सांस्कृतिक स्थितियाँ तथा कल्पना शक्ति कारणभूत होती हैं। प्रतीक की सफलता इस बात में है कि वह हमारी पूर्व संचित अनुभूतियों को, हमारी कल्पना को, हमारे ज्ञान को, हमारी चेतना में सोये हुए उस संदर्भ से सम्बद्ध प्रत्येक सुख-दुख आशा-आकांक्षा को जगाने में समर्थ हो। तात्पर्य यह कि प्रतीक की शक्ति अभिप्रेत पर्युत्सुकता (रिस्पांस) को अधिक से अधिक तीव्रता के साथ जगा सकने की सफलता में है।

प्रतीक दो प्रकार से प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकता और कल्पना के अनुसार दोनों पद्धतियों को काम में लाता है।

१) वाह्य अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में। जैसे अपनी राष्ट्र, इच्छा,

१) प्रतीक रूप में आई हुई वस्तुओं का आकर्षण

२) चिरपरिचित आरोप का आधार

३) वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा

सामान्यतः इन आधारों को मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पर एक कट्टर रहस्यवादी अथवा प्रतीकवादी के लिये इनमें से तीनों ही कारणों का होना आवश्यक नहीं है। वह 'महामन' तथा 'महास्मृति' के आधार पर प्रतीकों की व्याख्या करेगा और उसके लिये प्रतीक इन्हीं दोनों तत्त्वों का प्रतिनिधि होगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार तान्त्रिकों के चक्रादि देवताओं के प्रतिनिधि होते हैं।

रहस्यवाद प्रतीकों का प्रकृत क्षेत्र है। रहस्यवादी कवि जिस लोकोत्तर भावना को व्यक्त करता है वह इतनी सूक्ष्म और अस्पष्ट होती है कि प्रतीकों की सहायता के बिना उसकी अभिव्यक्ति असम्भव है। आदिम काल से लेकर आज तक मनुष्य अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिये तीन प्रकार की प्रतीक पद्धतियों को काम में लाता रहा है—

१—चेतन अचेतन की समरसता के प्रतीक—जैसे लौह, काष्ठ तथा अग्नि में एक ही ज्वलनशील चेतन-तत्त्व की कल्पना। 'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न, न भिन्न'—आदि उक्तियाँ इसी कोटि मे आयेंगी।

२—जीवन की सामान्य उपयोगी वस्तुओं के माध्यम से अनन्त की कल्पना—जैसे अन्न, जल, वायु, मत्स्य तथा सोमरस में ब्रह्म की स्थिति की धारणा।

३—मानवीय सम्बन्धों के रूप में परमतत्त्व की कल्पना—जैसे पिता-पुत्र, पति-पत्नी अथवा सखा सम्बन्ध का आरोप। पिता-पुत्र की भावना ईसाई धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती है, पति-पत्नी की जायसी आदि कवियों में। व्यापक और रमणीय होने के कारण पति-पत्नी अथवा नायक-नायिका वाली कल्पना सबसे अधिक प्रचलित है।

रहस्यवादी प्रतीकों के आरोप के सम्बन्ध में कोलरिज ने बहुत गहराई से विचार किया था। कोलरिज के निकट प्रतीक एक पारदर्शी सत्ता के रूप में था जिसके माध्यम से वह 'सान्त' और 'अनन्त', 'सामान्य' और 'विशेष' तथा 'नश्वर' और 'अनश्वर'—सब कुछ को देख सकता था। इस सम्बन्ध में कोलरिज का कथन इस प्रकार है—

'प्रतीक की यह विशेषता है कि वह व्यष्टि में किसी विशेष सत्ता का, अथवा विशेष में किसी सामान्य सत्ता का, अथवा सामान्य में किसी सर्वव्यापी

तत्त्व का आभास देता है और सबसे ऊपर नश्वर वस्तु में अनश्वर की झलक पैदा करता है।"[१] )

कोलरिज की यह परिभाषा बहुत दिनों तक रहस्यवादियों की ढाल बनी रही। निस्सन्देह इस कथन के द्वारा 'प्रतीक' के मूल्यांकन में सहायता मिल सकती है। परन्तु हिन्दी की छायावादी कविता में प्रतीकों का जिस रूप में विकास हुआ, वह कोलरिज की परिभाषा से बहुत दूर तक समर्थित नहीं होता। छायावादी कविता के अधिकांश प्रतीक लाक्षणिक हैं और उनसे किसी सर्वथा अतीन्द्रिय सत्ता की ही अभिव्यक्ति हो, यह आवश्यक नहीं। प्रसाद जी और महादेवी जी की कुछ कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अवश्य एक निश्चित परन्तु अस्पष्ट भावसत्य के प्रतिनिधि रूप में हुआ है। पर यह प्रवृत्ति उस काव्य की मुख्य प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती।

योरोप में प्रतीकवाद के नाम से एक सम्प्रदाय भी चल चुका है जिसका फ्रांस में सबसे अधिक जोर था। प्रतीकवादी मानते थे कि प्रतीकों में एक प्रकार की अन्तर्निहित अर्थसम्पदा होती है, कविता का काम है कि वह उनका उद्घाटन करे। प्रतीकवादियों के निकट प्रतीक से बड़ा कोई सत्य था ही नहीं। यहाँ तक कि उनके सिद्धान्त में परम्परागत उपमाओं, रूपकों, और उत्प्रेक्षाओं के लिये भी कोई स्थान नहीं था। साहित्य के विशाल अनुभव से प्राप्त प्रतीक भी उनके लिये महत्त्वपूर्ण न थे। वे निशेषोन्मुख और वैयक्तिक प्रतीकों को ही काव्य के लिये श्रेयस्कर मानते थे। परिणाम यह हुआ कि प्रतीकवादी धीरे धीरे व्यक्तिगत अनुभूतियों और सपनों की दुनिया में सिमटते गये और उनके प्रतीक मानसिक जटिलताओं तथा ग्रन्थियों के द्योतक बनते गये। ऐसे कवियों में वर्लेन, रिंबो, आरीद देनिसे, जूल लाफोर्ग, मेलार्मे तथा वेलरी आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इंग्लैंड में इसके अगुआ बने डब्ल्यू० बी० येट्स और टी० एस० एलियट। भारतवर्ष में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के द्वारा पहले-पहल नवीन प्रतीकों की अर्थगत संभावनाओं की ओर लोगों का ध्यान गया। हिन्दी की छायावादी कविता पर भी इसका प्रभाव

---

१ A symbol is characterised by a translucence of the special in the individual, or of the general in the special, or of the universal in the general, above all by the translucence of the eternal through and in the temporal

The State Man's Manual, Complete Works, Volume I, P. 407–8.

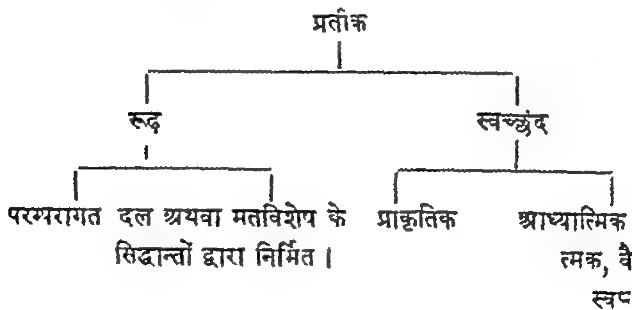
पड़ा। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि की कविताओं में स्वच्छन्द रहस्यात्मक प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

साहित्य और कला में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अन्य क्षेत्रों में बौद्धिक प्रतीकों का प्राधान्य होता है, काव्य में संवेदनात्मक अथवा भावात्मक प्रतीक ही ग्राह्य होते हैं। कारण यह है कि वहाँ प्रतीकों का निर्माण, संचयन और योजना कल्पना के द्वारा होता है। इस कार्य में कल्पना को विशाल सांस्कृतिक उपलब्धियों और चिराचरित भावना पद्धतियों से सहायता मिलती है। युग ने इसीलिये कहा था कि—

'कविता हमारे (वर्तमान) शब्दों के आवरण में दूरस्थ आदिम शब्दों की प्रतिध्वनि है।' †

अर्थात् काव्यगत शब्दों का अर्थ किसी एक युग, व्यक्ति अथवा क्षण का नहीं होता, उनका अर्थ एक प्रवहमान ऐतिहासिक परिवेश का अंग है। इसीलिये अर्थ में एक नैरन्तर्य होता है और जब किसी कविता की हम आवृत्ति करते हैं तो उसका अर्थ वही नहीं रह जाता जो पहली बार पढ़ने पर लगा था।

छायावादी प्रतीकों का अध्ययन इसी आधार पर किया जा सकता है। सुभीते के लिये हम एक चित्र के द्वारा काव्य में पाये जाने वाले प्रतीकों की अलग अलग स्थितियों को समझ लें। चित्र इस प्रकार है—




छायावादी कविता में प्रायः सभी प्रकार के प्रतीक मिल जाते हैं प्रधानता स्वच्छन्द प्रतीकों की ही है। स्वच्छन्द प्रतीकों में भी प्राकृ रहस्यात्मक प्रतीकों की अधिकता है। प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग प्रा णिक पद्धति पर हुआ है, जिसमें कल्पना आभ्यन्तर सम्बन्धयोजन

---

† —Poetry means the distant echo of the primit behind our veil of words.

—Jung. Contribution to analytical Psychology,

अर्थों का उत्कर्ष उपस्थित करती है। रहस्यवादी कही जाने वाली कविताओं में रहस्यात्मक और स्वप्नपरक प्रतीकों की प्रधानता है। प्रसाद जी और महादेवीजी की कविताओं में कभी-कभी परम्परागत और सैद्धान्तिक प्रतीक भी मिल जाते हैं। निराला की कुछ दार्शनिक कविताओं में आध्यात्मिक प्रतीकों की अच्छी योजना मिलती है। प्राकृतिक प्रतीकों का सबसे सुन्दर और व्यापक प्रयोग पत की कविताओं मे देखा जाता है। परम्परागत प्रतीकों के अन्तर्गत ही पौराणिक तथा ऐतिहासिक प्रतीक भी आ जाते हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग सामान्य रूप से सभी छायावादी कवियों ने किया है। परन्तु 'प्रसाद' के काव्य मे परम्परागत प्रतीकों का, और विशेष रूप से पौराणिक प्रतीकों का बड़ा रमणीय और उदात्त प्रयोग मिलता है। कामायनी के कथानक की बनावट, उसके पात्र, स्थितियाँ, महामत्स्य, नाव, हिमालय, काम तथा लज्जा आदि—सबके सब प्रतीकात्मक महत्त्व रखते हैं। अन्य कवियों ने पौराणिक प्रतीकों का उपयोग कम किया है। कुछ उदाहरणों के द्वारा प्रतीक योजना के विभिन्न रूपों को समझ लिया जाय। इतना ध्यान रहे कि इन प्रतीकों के निर्माण में लोककल्पना और व्यक्ति कल्पना दोनों का पारस्परिक योग है।

परम्परागत प्रतीक—इस वर्ग के प्रतीकों का छायावादी कवियों ने अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया है और जहाँ कहीं किया है वहाँ नये सदर्भ तथा नवीन अर्थ संकेत के रूप में। महादेवी जी का निम्न छद देखिये—

> नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ।
> शलभ जिसके प्राण मे वह निठुर दीपक हूँ!
> फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ!

इन पक्तियों में आये हुए चातक, शलभ, दीपक, बुलबुल आदि चिर-परिचित प्रतीक हैं। परन्तु कवियित्री ने एक नयी विरोधाभासमयी सम्बन्ध योजना के द्वारा इनको एक नई अर्थवत्ता दे दी है।

सांप्रदायिक प्रतीक—कामायनी के रहस्य सर्ग में जिन प्रतीकों का उपयोग हुआ है वे प्रायः एक मतविशेष से गृहीत और निश्चित हैं। ऐसे प्रतीकों का प्रभाव उतना व्यापक नहीं होता जितना परम्परागत अथवा प्राकृतिक प्रतीकों का। नीचे लिखी पक्तियाँ उदाहरण हैं—

> शक्ति तरग प्रलय पावक का
> उस त्रिकोण में निखर उठा-सा,
> शृङ्ग और डमरू निनाद बस
> सकल विश्व में बिखर उठा-सा

इन पक्तियों में आये हुए त्रिकोण, शृङ्ग, डमरू आदि प्रतीक शैवदर्शन

में प्रचलित हैं। आनन्दवादी प्रसाद ने उनका उपयोग एक निश्चित बँधे हुए अर्थ में किया है, जिसकी प्रेरणा निस्सदेह उन्हें शैवदर्शन से प्राप्त हुई थी। अगरेजी के कुछ ईसाई रहस्यवादियों मे साप्रदायिक प्रतीकों का अत्यधिक आग्रह पाया जाता है।

आध्यात्मिक प्रतीक—साम्प्रदायिक प्रतीकों से इस वर्ग के प्रतीकों का बहुत कम अन्तर है। यदि कुछ अन्तर हो सकता है तो केवल इतना कि इस वर्ग के प्रतीकों के निर्माण में कवि के अपने चिन्तन और अनुभूति का भी योग होता है। निराला जी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता इसका उदाहरण है। महादेवी जी की 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' कविता में आध्यात्मिक प्रतीक का रूप और भी स्पष्ट है—

> टूट गया वह दर्पण निर्मम!
> उसमें हँस दी मेरी छाया,
> मुझमें रोयी ममता माया
> अश्रु हास से विश्व सजाया,
> खेल रहे थे आँख मिचौनी—
> प्रिय जिसके परदे में 'हम'-'तुम'!

रहस्यात्मक प्रतीक—कल्पना जब जिज्ञासा और कुतूहल से विकल होकर प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं में अज्ञात संकेत अथवा स्पर्श का अनुभव करती है तब रहस्यात्मक प्रतीकों की सृष्टि होती है। पत जी की कविताओं में इस तरह के प्रतीकों का बाहुल्य है। जैसे—

> कभी उड़ते पत्तों के साथ,
> मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
> बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
> बुलाते, फिर मुझको उस पार।

'उड़ते पत्ते', 'लहरों के हाथ', 'उस पार' आदि प्रतीक मानव-मन की सहज जिज्ञासा और भावुकता से प्रेरित हैं। इसीलिये इतने प्रभावशाली और समर्थ हैं। रहस्यवादी काव्य में इस वर्ग के प्रतीकों का महत्त्व, शक्ति और प्रभावशालिता की दृष्टि से, सबसे अधिक है। वैदिक ऋषियों द्वारा निर्मित ऋचाओं में प्राकृतिक रहस्यभावना की जो पवित्रता और मिठास मिलती है वह इसी लिये कि उनके प्रतीक अत्यन्त परिचित लोक जीवन और प्रकृति से लिये गये थे। निराला और महादेवी वर्मा की कुछ कविताओं में भी स्वाभाविक रहस्यभावना से प्रेरित प्रतीक मिल जाते हैं।

इन्हीं रहस्यात्मक प्रतीकों का प्रयोग जब सहज लौकिक भावों की

प्रेषणीयता के लिये होता है तो वे शुद्ध प्राकृतिक रूप में होते हैं और उन पर किसी अदृश्य सत्ता का आरोप नहीं होता। निराला, पंत, बच्चन आदि की कुछ कविताओं मे प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग शुद्ध रूप में मिलता है। वैयक्तिक प्रतीकों का प्रयोग भी कुछ छायावादी कवियों ने किया है। परन्तु स्वप्नपरक प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य मे नहीं मिलता। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग कुछ अत्याधुनिक कविताओं मे मिलता है।

कुल मिलाकर छायावादी प्रतीकों का निर्माण अधिकतर, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, स्वाभाविक रूप में ही हुआ है। प्रारम्भ में ये प्रतीक सहज बिम्ब अथवा चित्र के रूप में आते थे और बार-बार की आवृत्ति के द्वारा उत्तरकालीन छायावादी रचनाओं में इनमे प्रतीकात्मक निश्चितता आ गई। अब ये प्रतीक एक निश्चित अर्थ के बोधक हैं और सिसिल डे लुइस के शब्दों में उनमें उतनी ही अर्थगत निश्चितता है जितनी 'मैं' शब्द में होती है। 'मैं' कहने से जिस प्रकार एक निश्चित व्यक्ति का बोध होता है उसी प्रकार ये प्रतीक भी एक अस्पष्ट परन्तु निर्णीत अर्थ के वाहक बन गये हैं।



में प्रचलित हैं। आनन्दवादी प्रसाद ने उनका उपयोग एक निश्चित बँधे हुए अर्थ में किया है, जिसकी प्रेरणा निस्संदेह उन्हें शैवदर्शन से प्राप्त हुई थी। अंगरेजी के कुछ ईसाई रहस्यवादियों में साम्प्रदायिक प्रतीकों का अत्यधिक आग्रह पाया जाता है।

आध्यात्मिक प्रतीक—साम्प्रदायिक प्रतीकों से इस वर्ग के प्रतीकों का बहुत कम अन्तर है। यदि कुछ अन्तर हो सकता है तो केवल इतना कि इस वर्ग के प्रतीकों के निर्माण में कवि के अपने चिन्तन और अनुभूति का भी योग होता है। निराला जी की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता इसका उदाहरण है। महादेवी जी की 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' कविता में आध्यात्मिक प्रतीक का रूप और भी स्पष्ट है—

टूट गया वह दर्पण निर्मम!
उसमें हँस दी मेरी छाया,
मुझमें रोयी ममता माया
अश्रु हास से विश्व सजाया,
खेल रहे थे आँख मिचौनी—
प्रिय जिसके परदे में 'हम'-'तुम'!

रहस्यात्मक प्रतीक—कल्पना जब जिज्ञासा और कुतूहल से विकल होकर प्रत्यक्ष जगत की वस्तुओं में अज्ञात संकेत अथवा स्पर्श का अनुभव करती है तब रहस्यात्मक प्रतीकों की सृष्टि होती है। पंत जी की कविताओं में इस तरह के प्रतीकों का बाहुल्य है। जैसे—

कभी उड़ते पत्तों के साथ,
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार।

'उड़ते पत्ते', 'लहरों के हाथ', 'उस पार' आदि प्रतीक मानव-मन की सहज जिज्ञासा और भावुकता से प्रेरित हैं। इसीलिये इतने प्रभावशाली और समर्थ हैं। रहस्यवादी काव्य में इस वर्ग के प्रतीकों का महत्त्व, शक्ति और प्रभावशालिता की दृष्टि से, सबसे अधिक है। वैदिक ऋषियों द्वारा निर्मित ऋचाओं में प्राकृतिक रहस्यभावना की जो पवित्रता और मिठास मिलती है वह इसी लिये कि उनके प्रतीक अत्यन्त परिचित लोक जीवन और प्रकृति से लिये गये थे। निराला और महादेवी वर्मा की कुछ कविताओं में भी स्वाभाविक रहस्यभावना से प्रेरित प्रतीक मिल जाते हैं।

इन्हीं रहस्यात्मक प्रतीकों का प्रयोग जब सहज लौकिक भावों की

प्रेषणीयता के लिये होता है तो वे शुद्ध प्राकृतिक रूप में होते हैं और उन पर किसी अदृश्य सत्ता का आरोप नहीं होता। निराला, पंत, बच्चन आदि की कुछ कविताओं में प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग शुद्ध रूप में मिलता है। वैयक्तिक प्रतीकों का प्रयोग भी कुछ छायावादी कवियों ने किया है। परन्तु स्वप्नपरक प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य में नहीं मिलता। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग कुछ अत्याधुनिक कविताओं में मिलता है।

कुल मिलाकर छायावादी प्रतीकों का निर्माण अधिकतर, कुछ एक अपवादों को छोड़कर, स्वाभाविक रूप में ही हुआ है। प्रारम्भ में ये प्रतीक सहज बिम्ब अथवा चित्र के रूप में आते थे और बार-बार की आवृत्ति के द्वारा उत्तरकालीन छायावादी रचनाओं में इनमें प्रतीकात्मक निश्चितता आ गई। अब ये प्रतीक एक निश्चित अर्थ के बोधक हैं और सिसिल डे लुइस के शब्दों में उनमें उतनी ही अर्थगत निश्चितता है जितनी 'मैं' शब्द में होती है। 'मैं' कहने से जिस प्रकार एक निश्चित व्यक्ति का बोध होता है उसी प्रकार ये प्रतीक भी एक अस्पष्ट परन्तु निर्णीत अर्थ के वाहक बन गये हैं।

———

१०

# 'मिथ' और कल्पना

कल्पना का मुख्य कार्य मूर्तिनिर्माण माना गया है। मूर्तिनिर्माण का क्षेत्र बहुत व्यापक है। छोटे-छोटे ऐन्द्रिय चित्रों से लेकर चित्र-विचित्र चरित्रों की सृष्टि तक तथा आदिम मनुष्य की ऐन्द्रजालिक कल्पनाओं से लेकर आधुनिक काव्य के सूक्ष्म-भाव संकेतों तक उसका विस्तार है। 'मिथ' का सम्बन्ध आदिम कल्पनाओं से है। वह आदिम मनुष्य की आध्यात्मिक, रहस्यात्मक तथा प्राक्-धार्मिक भावनाओं की प्रतिकृति है। आज यदि हम धर्म का अध्ययन करना चाहें तो बिना 'मिथ' की सहायता के एक प्रकार से उसका अध्ययन असंभव है। इससे पहले कि हम 'मिथ' के साहित्यगत रूप की चर्चा करें, यह आवश्यक है कि हम 'मिथ' के स्वरूप को समझ लें।

सर्वप्रथम अरिस्टोटल के काव्यशास्त्र में 'मिथ' की विस्तृत चर्चा मिलती है। वहाँ 'मिथ' शब्द का प्रयोग 'कथानक' अथवा 'वर्णनात्मक कथाओं' के अर्थ में हुआ है। उस समय 'मिथ' तर्कपूर्ण दार्शनिक पद्धति का विरोधी समझा जाता था। प्रायः उसे अबौद्धिक और प्रातिभज्ञानपरक माना जाता था। आज की समीक्षा में यह शब्द बड़ा व्यापक अर्थ रखता है। व्यापक रूप से इसको लोकगीत, नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषणशास्त्र, तथा ललित कलाओं से सम्बद्ध मानते हैं। सामान्य प्रयोग में यह शब्द प्रायः इतिहास, विज्ञान, दर्शन तथा सत्य के विरोध में आता है।

अठ्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब विज्ञान का जागरण हो रहा था —उस समय 'मिथ' पूर्णतया विज्ञानविरोधी समझा जाता था। पर आगे चलकर जब जर्मन रोमांटिकों, कोलरिज, इमर्सन तथा नीत्शे का प्रभाव बढ़ा तब नये सिरे से 'मिथ' के महत्त्व पर विचार किया गया। धीरे-धीरे उसमें सत्यांश को स्वीकार किया गया। कोलरिज ने इस बात पर जोर दिया कि मिथ वैज्ञानिक सत्य अथवा ऐतिहासिक सत्य का विरोधी नहीं, उसका पूरक है। कोलरिज का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—

'ऐसा न समझा जाय कि यह (मिथ) एक प्रकार का ज्ञान है, बस। नहीं, यह जीवन की एक पद्धति है, अथवा यही एकमात्र ज्ञान है जिसका

अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। शेष सभी ज्ञान वहीं तक सत्य है जहाँ तक वे मिथ की प्रतीकात्मक छाया बन पाते हैं।'[1]

ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से मिथ प्राचीन संस्कारों के अनुवर्ती है। 'मिथ' का सम्बन्ध संस्कारों के उस भाग से है जो धार्मिक अनुष्ठानादि के समय उच्चरित होता था। संस्कार सामाजिक कल्याण के लिये पुरोहितों के द्वारा किये जाते थे। आरम्भिक काल में 'मिथ' के द्वारा जीवन में प्रवेश करने वाले अधीतशास्त्र राजकुमारों अथवा ब्राह्मणयुवकों को सृष्टि के रहस्य तथा उसके उद्देश्य के सम्बन्ध में उपदेश दिये जाते थे। इसीलिये प्राचीन गाथाओं तथा पुराणों में उपदेशात्मक चित्रों की प्रधानता है। गाथाओं का निर्माण कथानक रूढ़ियों तथा प्राकृतिक प्रतीकों के आधार पर होता था। कथानक रूढ़ियों के भी विभिन्न प्रकार होते थे—सामाजिक, आधिदैविक, रहस्यात्मक, मृत्युपरक आदि। ब्लूमफील्ड आदि ने इनका विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन किया है।

'मिथ' का चरित्र जातीय होता है। इनके रचयिताओं का कोई पता नहीं। एक ग्रीक विद्वान ने बहुत ठीक कहा है कि मिथ के आवरण में छिपी हुई कथायें, चाहे ग्रीक हों, चाहे आर्य, चाहे और कुछ, उस घास की तरह हैं जो किसी भी मिट्टी पर उगाई जा सकती है। यही कारण है कि संसार के विभिन्न देशों की गाथाओं में बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो समान रूप से सब में पाये जाते हैं।

आदिम मनुष्य की कल्पना शक्ति के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कही गई हैं। एक विद्वान का तो यहाँ तक कहना है कि 'आदिम मनुष्य की कल्पना के विकास के साथ कुछ अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण तत्त्व जुड़ गये थे। परिणामतः उसने प्राकृतिक वस्तुसत्ता का प्रायः अतिक्रमण किया और मानव के बौद्धिक विकास को शाखामृग' से आगे नहीं बढ़ने दिया।' परन्तु आदिम मनुष्य की कल्पना को नकारात्मक दृष्टि से देखना ठीक नहीं। वस्तुतः प्राचीन कथाओं तथा पुराणों में पाई जाने वाली असंगतियाँ मनुष्य के भावविकास के विभिन्न स्तरों को सूचित करती हैं। नृतत्त्वशास्त्रियों ने आदिम संस्कृति में जादूवाद तथा तंत्र मंत्र को अनिवार्य तत्त्व माना है। पहला व्यक्तित्वभाव-

---

[1]—But let it not be supposed that it is a sort of knowledge No! it is a form of being, or indeed it is the only knowledge that truly is and all other science is real only as far as it is symbolical.

—Coleridge on imagination, P. 167.

सम्पन्न अज्ञात आत्माओं तक पहुँचने के लिये तथा उसे शमित अथवा प्रसन्न करने के लिये होता था और दूसरा प्राकृतिक वस्तुओं के भीतर क्रियाशील रहने वाले शक्तिनियमों का आदिम ढग से अध्ययन करता था। मानव-संस्कृति के विकास में जादू तथा मत्र की स्थिति प्राक्वैज्ञानिक मानी जाती है। उनकी सिद्धि के लिये प्रायः जतर, मतर, जादूगर की छड़ी, विभिन्न कोणों तथा आकारों से निर्मित बिम्ब तथा शवादि काम में लाये जाते थे। प्राचीन मंदिरों, खडहरों, गुफाओं, बर्तनों, मुहरों, तथा दर्पणों आदि पर इस तरह के चित्र आज भी खुदे मिल सकते हैं। इनको देखने से तत्कालीन मानव की कल्पनाशक्ति का सही-सही परिचय मिल सकता है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि आदिम मानव की कल्पनाशक्ति को प्रेरित तथा निर्धारित करने वाले तत्त्व थे धर्म और जादू। फलतः उसकी कल्पना का स्वरूप बहुत कुछ आधिदैविक और ऐन्द्रजालिक हो गया। उसके लिये दस मुख वाले राक्षस, उड़ने वाले देवदूत, यक्ष, गधर्व, किन्नर, आधे सिंह और आधे मानवशरीरधारी जन्तु, पशुपक्षियों की बातचीत, परकायाप्रवेश, लिंग परिवर्तन, मृतात्माओं का सचरण, शेषनाग के फण पर पृथ्वी का स्थिर होना, क्षीर-सिन्धु शायी विष्णु की नाभि से ब्रह्मा तथा सृष्टि की उत्पत्ति आदि बातें सहज ही कल्पनागम्य हो गईं। यह हो ही नहीं सकता था कि आदिम मनुष्य कोई कल्पना करे और उसमें प्रकृति का कोई न कोई जन्तु, कोई पेड़, कोई पक्षी, कोई पर्वत अथवा कोई चट्टान पात्ररूप में, मानव अनुभूतियों के भोक्ता के रूप में, न आये। जिस तरह आज के उपन्यास लेखक के लिये ट्रेन, कार, वायुयान, मगल ग्रह तथा चन्द्रलोक की यात्रा आदि का वर्णन, रोज-रोज के अनुभव तथा वैज्ञानिक विकास की महती सम्भावनाओं के कारण, एक अच्छी तरह जाना पहचाना-सा सत्य हो गया है, उसी तरह आदिम मनुष्य का भी प्रकृति के चित्रविचित्र, अनगढ़ विराट् रूपों से चिर-दिन का सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध इतनी दूर तक और प्रगाढ़ था कि क्रिस्टोफर काडवेल के शब्दों में—

'आदिम मनुष्य ने सामाजिक यथार्थ को भौतिक यथार्थ से भिन्न समझ लिया था। ऐसा इसलिये हुआ कि ( उसकी समझ में ) व्यक्ति को जो 'भाव लोक' मिला था, वह बाहर से आया था और बाह्य उपयोगों से निर्मित था। फल यह हुआ कि तत्कालीन मनुष्य ने अपने 'भावलोक' को उस बाह्य सत्ता से अभिन्न समझ लिया, जिससे वह स्वय टकरा रहा था।'[१]

---

१ The social objectivity is confused by primitive man with material objectivity, so that the phantastic world, because it is presented to individual from outside by outside mani-

प्राचीन गाथाओं तथा पुराणों के भीतर मानव की इन्हीं उलझी-सुलझी भावनाओं का आकलन हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि जो काम कला अपने सौन्दर्यमूलक प्रयोगों के द्वारा करती है, वही काम 'मिथ' कभी विधियों और संस्कारों के द्वारा करता था। दोनों ही मानवीय अनुभूतियों और संवेगों को सामाजिक आवश्यकता के अनुकूल रूप देते हैं। दोनों ही समाज की अस्पष्ट परन्तु सच्ची भावनाओं को कलात्मक साँचे में ढालते हैं। पौराणिक कल्पना काव्यात्मक कल्पना के समानान्तर यहीं तक चल पाती है। और इसके बाद वह धर्म, अध्यात्म, जादू तथा तंत्र-मन्त्र से एकाकार हो जाती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पौराणिक कल्पना से काव्यात्मक कल्पना का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'पुराण मनुष्य की उन कल्पनाओं का जातीय रूप है, जो जगत के व्यापारों को समझने में बुद्धि के कुण्ठित होने पर उद्भूत हुई थीं और दीर्घ काल तक जातीय चिन्ता के रूप में संचित होकर विश्वास का रूप धारण कर गई हैं। काव्य की कल्पना, कल्पना ही रहती है, वह सत्य को ग्रहण करने में सहायक होती है। कल्पना ने जहाँ विश्वास का रूप धारण किया, वहाँ वह पुराण हो गई, काव्य नहीं रही। काव्य की कल्पना सदा सत्य को गाढ़ भाव से अनुभव करने का साधन बनी रहती है, स्वयं सत्य को आच्छादित करके प्रमुख स्थान पर अधिकार नहीं कर लेती।'†

काव्य की कल्पना से पौराणिक कल्पना अथवा 'मिथ' का अंतर यह हुआ कि पहली में विकल्प के लिये अवकाश है, दूसरी में नहीं। पौराणिक कल्पना का आधार है जातीय अनुभव और उसका स्तम्भ है जातीय विश्वास। कवि कल्पना एकान्त व्यक्ति की कल्पना होती है। काव्य की कल्पना का विकास व्यक्ति जीवन का विकास है और पौराणिक कल्पना का विकास समूह जीवन का। काव्य की कल्पना कला के नियमों से बंधी होती है और पौराणिक कल्पना प्रकृति के नियमों से। काव्य में एक प्रकार की स्थिरता होती है। इसके विपरीत पुराणों में स्वतोव्याघात (सेल्फ कन्ट्रेडिक्शन) तथा आत्म-संशोधन की प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण पीढ़ी दर पीढ़ी उनमें परिवर्तन होते चलते हैं। इसका कारण भी वही है, जिसका उल्लेख 'कल्पना और परिवेश'

---

pulation, is confused with the material world against which he bumps himself.

—Illusion and Reality, p. 183

†—साहित्य का सार्थ।—पृ० ५६,

वाले अध्याय में किया गया है—एक युग से दूसरे युग की सांस्कृतिक बनावट अथवा बोधवृत्ति की भिन्नता। क्रिस्टोफर काडवेल ने कबीलों की आर्थिक स्थिति को इस परिवर्तन का कारण बताया है।‡

मध्ययुग के आरम्भ तक आते-आते पौराणिक कल्पना के विकास के तत्त्व समाप्त होने लगे और उनमें स्थिरता आने लगी। उसकी दो मुख्य प्रवृत्तियों में स्वतोव्याघात की प्रवृत्ति तो रह गई, पर आत्म संशोधन की प्रवृत्ति धीरे-धीरे क्षीण होती गई। प्राकृतिक भाव से प्रेरित होने के कारण आदिम मनुष्य को किसी वस्तु पर प्रयत्नपूर्वक विश्वास करने की आवश्यकता न थी। फिर जब वह वस्तु उसी की सामूहिक भावना की निर्मित हो तो उस पर अलग से विश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। आदिम मनुष्य के निकट पुराणों की कल्पना उतनी ही सहज सत्य थी जितनी स्वयं प्रकृति। ठीक उसी प्रकार जैसे उपन्यास के पाठक को पात्रों से परिचित होते समय उन पर अलग से विश्वास करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि कला से उसका प्रत्यक्ष परिचय होता है। आदिम मनुष्य अविच्छिन्न रूप से प्रकृति से बँधा हुआ था। वह उसका प्रत्यक्ष भोक्ता था। परन्तु जब धीरे-धीरे पुराणों का रूप स्थिर और दृढ़ होता गया तो उसे उन पर प्रयत्नपूर्वक विश्वास करने की आवश्यकता अनुभव हुई। यही तटस्थ विश्वास बढ़ते बढ़ते अंधविश्वास का रूप धारण कर गया। काडवेल ने कहा है कि किसी वस्तु पर विश्वास करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब उसके प्रति हमारे मन में वस्तुत. विश्वास का अभाव होता है। पुराणों के प्रति बद्धमूल अंधविश्वास का भी बहुत कुछ यही कारण है। होते होते एक एक समय ऐसा आया जब पुराण और धर्म के बीच की दूरी मिट गई और दोनों एक दूसरे में घुलमिल गये। पश्चिम में यह मिश्रण उतना घनिष्ठ नहीं हुआ जितना अपने यहाँ।

लोकजीवन और साहित्य में पुराणों के विकास की चार स्थितियाँ होती हैं—

१—पुराण अथवा 'मिथ'

---

‡ – Mythology has selfrighting tendency it remains on the whole true it reflects accurately the collective emotional life of the tribe in its relation to the environment to the degree in which the tribe's own interpenetration of its environment in economic production makes accuracy possible.

Illusion and Reality, P. 184.

२—पुराण और इतिहास की सीमायें एक दूसरे में घुलमिल जाती हैं।
३—पौराणिक इतिहास लोकवार्ता का रूप ले लेता है।
४—लोकवार्त्ता अथवा लोककथाओं को अधिक कलात्मक रूप देकर साहित्य में ग्रहण कर लिया जाता है।

कभी-कभी कोई पौराणिक कथा अथवा 'मिथ' इस परिवर्तन की लम्बी प्रक्रिया के बिना भी साहित्य में पहुँच जाता है। ऐसी दशा में लेखक अथवा कवि अपनी आवश्यकता के अनुसार उसे अपनी कल्पना के साँचे में ढाल लेता है और नई उद्भावनाओं से संयुक्त करके उसे ऐसा रूप दे देता है कि उसके मौलिक रूप की अपेक्षा उसमें कई गुना अधिक प्राणवत्ता आ जाती है। शकुंतला की कथा इसका उदाहरण है। कालिदास ने महाभारत के निर्जीव कथा-खण्ड से उसको उठाकर ऐसा प्राणवंत रूप दे दिया कि आज शकुन्तला की कथा के मौलिक रूप को हम भूल से गये हैं।

लोकवार्ता की भाँति निजंधरी कथाओं का भी 'मिथ' से बहुत निकट का सम्बन्ध है। पर दोनों की प्रकृति में एक मौलिक अन्तर है। निजंधरी कथाओं (लिजेण्ड्स) का आधार है मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन, प्रकृति तथा विरोधी शक्तियों के प्रति उसका संघर्ष। 'मिथ' वह है जो मानव-जीवन के व्यापक अनुभवों और इच्छाओं को रूपायित करता है। इसी प्रकार परियों की कहानियाँ, नाराशसी गाथायें, भूत-प्रेत और जादू-मन्त्र की कहानियाँ भी लोक कल्पना की उपज हैं। हार्टलैंड ने परियों की कहानियों में प्रवृत्त होने वाली लोक-कल्पना के सम्बन्ध में लिखा है कि उसकी गर्दन लोक-चेतना की बाग-डोर से जकड़ी होती है।[1] एच० के० रोज ने भी आदिम गल्प को केवल मात्र मनोरंजन का साधन माना है और बताया है कि उसका निर्माण करने वाली लोक-कल्पना की सीमायें बहुत संकुचित होती हैं।

वस्तुतः यह लोक-कल्पना को एक भ्रांत आधार पर रखकर देखने जैसा प्रयत्न है। लार्ड रेग्लान ने इन लोकप्रचलित कथा-कहानियों का निर्माण करने वाली कल्पना की व्याख्या इस रूप में की है—

'लोककथाओं में प्रवृत्त होने वाली कल्पना का काम 'अभाव' से 'भाव'

---

१—In the fairy tale the reins are thrown on the neck of imagination

—The Science of Fairy Tales, p 23,

का निर्माण करना नहीं, पहले से मन में स्थित वस्तुओं का परस्पर स्थानान्तरण करना है।*

इससे स्पष्ट है कि लोककथाओं का निर्माण एक व्यापक यथार्थ के स्तर पर होता है और उसमें काम करने वाली कल्पना किसी ऐन्द्रजालिक अथवा अतीन्द्रिय भावना से चालित नहीं होती। होता यह है कि वह यथार्थ को एक ऐसे स्तर पर ग्रहण करना चाहती है, जहाँ वह विशृंखल, अस्पष्ट और विपर्यस्त होता है। कभी-कभी किसी अस्पष्ट और उलझी हुई सामाजिक सचाई को व्यक्त करने के लिये भी कल्पना इस पद्धति से काम लेती है। उदाहरण के लिये कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में आये हुए दुर्वासा के शाप वाले प्रसग को लीजिये। वस्तुतः दुर्वासा का शाप एक सामाजिक सचाई का प्रतीक है जिसे कवि ने एक प्रचलित कथात्मक रूढ़ि के माध्यम से व्यक्त किया है। दुष्यन्त और शकुन्तला ने अपने परिणय-सम्बन्ध में जिस गान्धर्व रीति का अवलम्बन किया था, वह व्यापक सामाजिक नियमों के विरुद्ध था। कवि ने प्रत्यक्ष रूप से इस विरोध का चित्र न देकर एक अधिक मनोज्ञ, अप्रत्यक्ष, और कलात्मक घटना-सृष्टि के द्वारा उसकी ओर सकेत भर कर दिया है। परियों की कहानियों, लोककथाओं तथा गाथाओं में इस तरह के प्रसग बहुत मिलते हैं और निस्सन्देह वे जाने-अनजाने किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये लाये जाते हैं।

'मिथ' कुछ बातों में इन सबसे मिलता हुआ भी सर्वथा भिन्न होता है और कभी-कभी उसको पहचानने में इसीलिये भ्रम हो जाता है। राबर्ट ग्रेव्ज़ ने अपनी पुस्तक 'ग्रीक मिथ' की भूमिका में 'मिथ' को ठीक-ठीक समझने के लिये निम्नलिखित उलझनों से बचने की सलाह दी है—

१—दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक अध्यवसान रूपक
२—कार्य-कारणवादी व्याख्याओं से पूर्ण आख्यान
३—उपहासपूर्ण उपाख्यान तथा व्याकृति (पैरोडी)
४—भावात्मक शिशु कथायें
५—चारणों के वीर तथा प्रेमकाव्य

---

*—In folk-tales exercise of imagination consists not in creating something out of nothing, but in the transmutation of matter already present in the mind.

The Hero, p 113.

१—The Greek Myths—Introduction, p 10.

६—प्राचीन राजाओं के प्रचारात्मक आख्यान
७—निजन्धरी कथायें
८—हास्यमूलक जनश्रुतियाँ
९—रंगमंचीय भावरूपक
१०—चमत्कारपूर्ण वीर कथायें
११—उपदेशात्मक गल्पादि

भारतीय साहित्य में उपर्युक्त कथा-कहानियों के वर्ग इस प्रकार एक दूसरे में उलझे हुए हैं कि उनके बीच से शुद्ध पौराणिक कथा अथवा 'मिथ' को पहचानकर बाहर निकाल लेना अत्यन्त कठिन कार्य है। दुर्भाग्यवश इस दिशा में पर्याप्त काम भी नहीं हुआ है। 'मिथ' का क्षेत्र इतना व्यापक है कि प्रायः सभी छोटे-बड़े लेखक उसका उपयोग करते हैं—उतनी ही सरलता से जितनी सरलता से वे किसी उपमा अथवा बिम्ब का प्रयोग करते हैं। पर साहित्य के व्यापक प्रयोगों में प्राचीन गाथाओं अथवा 'मिथ' का रूप आज इतना घिस गया है कि सामान्यतः उसके अस्तित्व का हमें ज्ञान ही नहीं होता। आधुनिक साहित्य में 'मिथ' का प्रयोग तीन रूपों में पाया जाता है १) उपमा, रूपक, प्रतीक अथवा बिम्ब के रूप में, २) प्रबन्ध काव्य, नाटकों एवं उपन्यासों के कथानक के रूप में, ३) कुछ अत्याधुनिक अंधविश्वासपरक धारणाओं के रूप में, जिन्हें सुविधा के लिये आधुनिक 'मिथ' कह सकते हैं। जिस प्रकार हम अपने मा-बाप से उत्तराधिकार के रूप में एक अनाहत और बलवती जिजीविषा प्राप्त करते हैं उसी प्रकार उस मूलस्रोत से हम और भी बहुत-सी चीजें प्राप्त करते हैं, जिनका स्पष्ट ज्ञान हमें नहीं होता। 'मिथ' या पुराण भी उन्हीं में से एक है। यूरिपिडीज़ ने बड़े गर्व के साथ कहा था—

'मिथ' मेरी निज की कृति नहीं है, मैंने उसे मा से प्राप्त किया था।[१]

तात्पर्य यह कि 'मिथ' की एक परम्परा होती है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित होती चलती है। जैसे-जैसे मनुष्य की कल्पनाशक्ति के सीमान्त परिवर्तित होते जाते हैं—बदते जाते हैं—वैसे-वैसे 'मिथ' का स्वरूप तथा उसकी प्रतीकात्मक व्यंजना भी घटती बढ़ती जाती है। साहित्य में आकर 'मिथ' अपने गाथात्मक रूप को छोड़कर प्रतीकात्मक रूप धारण कर लेता है। 'मिथ' काव्य की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील होता है, क्योंकि उसका आधार बिम्ब ( इमेज ) है। इसके विपरीत काव्य का आधार भाषा है। साहित्य में आकर 'मिथ' का बिम्ब-

---

१ Myth is not my own, I had it from my mother.

Euripides, Fr. 488.

प्रधान कलेवर भाषा की सीमाओं में बद्ध होकर एक निश्चित रूप धारण कर लेता है।

इतना सब कहने का तात्पर्य यही है कि 'मिथ' का आधार 'असत्य' नहीं, यथार्थ है। उसी प्रकार जिस प्रकार बिम्ब अथवा औपम्यविधान का आधार असत्य नहीं होता। 'मिथ' और बिम्ब दोनों ही मानवीय कल्पना की उत्पत्ति हैं और दोनों का महत्त्व है। आई० ए० रिचर्ड्स ने 'मिथ' अथवा पौराणिक कथाओं को मनुष्य की 'सम्पूर्ण चेतना' की अभिव्यक्ति कहा है।[1] प्रसाद जी ने कामायनी के आमुख में 'गाथा' की व्याख्या जिस रूप में की है वह 'मिथ' के बहुत निकट है—

'प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों से प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे, उन्हें आज गाथा वा उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रों के साथ बीच में भावनाओं का सम्बन्ध लगा दीखता है। . तर्क बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा होती है, किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।[2]

प्रस्तुत दोनों वक्तव्य आदिम मानव की उन अनगढ़, विराट् कल्पनाओं से सम्बन्ध रखते हैं जो अपनी विलक्षणता और विचित्रता के कारण प्राक्-साहित्यिक कोटि में रक्खी जाती हैं। आई० ए० रिचर्ड्स ने उन्हें मनुष्य की 'सम्पूर्ण चेतना' की अभिव्यक्ति कहा है और प्रसाद जी ने भी 'सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं' की बात उठाकर इसी तथ्य की ओर सचेत किया है। दोनों ही उनका मानव-संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योग मानते हैं। इस समानता के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने इस वक्तव्य में 'गाथा' शब्द से वही अर्थ ग्रहण किया है जो अंग्रेजी के अत्यन्त प्रचलित शब्द 'मिथ' से ग्रहण किया जाता है।

आज हम 'मिथ' अथवा पौराणिक कथाओं के प्रति तटस्थ हैं। उनके प्रति हमारे भीतर आस्था है—पर वह तटस्थ आस्था है। इसका कारण यही हो सकता है कि आज हम 'मिथ' के पाठक मात्र हैं, उसके रचयिता या भोक्ता नहीं। क्या आधुनिक मनुष्य में 'मिथ'-निर्मात्री शक्ति अथवा कल्पना का

---

1. The saner and greater mythologies are not fancies, they are the utterance of the whole soul of man, as such, inexhaustible to meditation.

Coleridge on Imagination. p 171.

2. —कामायनी—आमुख, पृ० ३।

अभाव है। सोरेल आदि जैसे कुछ विद्वानों का कहना है कि आज 'मिथ' का स्वरूप ही बदल गया है। 'मिथ' का निर्माण आज भी होता है और हम उसको उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना प्राचीन 'मिथ' को देते हैं। परन्तु विज्ञान की नवीन व्याख्याओं और भाष्यों के आवरण में 'आधुनिक मिथ' का स्वरूप इस प्रकार छिप गया है कि हम उसे 'मिथ' की संज्ञा देते हिचकते हैं। सोरेल की दृष्टि में मजदूरों की हड़ताल, आदर्शवाद तथा साम्यवाद की भावना भी एक प्रकार का 'मिथ' है, क्योंकि उनका आधार मनुष्य की कल्पना है, प्रत्यक्ष यथार्थ नहीं। इस सम्बन्ध में मतभेद के लिये पर्याप्त अवकाश है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'आधुनिक मिथ' जैसी चीज हमारे जीवन में कहीं न कहीं है अवश्य, चाहे उसका रूप जो भी हो। सिसिल डे लुइस का कहना है कि 'आदिम कवियों ने प्रकृति के रहस्यात्मक कार्यों को प्रतिबिम्बित करने के लिये 'मिथ' का निर्माण किया था और आज के बहुत से कवियों ने (मिथ-निर्माण के लिए) दूसरा ही क्षेत्र चुन लिया है, जिसका सम्बन्ध मानव-मन के क्रिया-व्यापारों से है।* उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक अवचेतन का सिद्धान्त, जीवन में मशीन की प्रधानता और उसकी शक्ति के प्रति अचल विश्वास, सामाजिक समता तथा विश्वराज्य आदि की धारणायें 'आधुनिक' मिथ के अन्तर्गत आयेंगी।

यहाँ तक तो हमने 'मिथ' के स्वरूप की चर्चा की। अब यह देखना है कि हमारे आधुनिक साहित्य में 'मिथ' का कहाँ और कितना उपयोग हुआ है। छायावादी काव्य को यहाँ से वहाँ तक देख जाने पर स्पष्ट दीखेगा कि इन कवियों ने 'मिथ' का उपयोग व्यापक पैमाने पर नहीं किया है। प्रसाद की कामायनी, जनमेजय का नागयज्ञ, निराला की राम की शक्तिपूजा आदि कुछ थोड़ी सी कृतियों को छोड़कर 'मिथ' के उदाहरण अधिक नहीं मिलेंगे। इसका कारण यह है कि इस काल के कवियों ने अपने काव्यात्मक प्रयोगों का विकास वैयक्तिक आधार पर अधिक किया, परम्परागत आधार पर कम। प्रसाद में परम्परा का बोध सबसे अधिक था, अतः उन्होंने 'मिथ' का उपयोग सबसे अधिक किया है। इसका दूसरा कारण यह है कि छायावादी कवियों के निकट 'मिथ' अथवा पुराण कथायें जिस रूप में पहुँच पाई थीं, उसमें प्रतीकात्मक अर्थ की सम्भावना कम से कम थी। छायावादी कवियों ने 'मिथ' की सीमाओं

---

*—Primitive poets created myth to represent the mysterious working of nature.-Many modern poets have occupied themselves with another field, the working of man's mind.

—Poetry for You, p 93.

में अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये उतना अवकाश नहीं पाया। यही कारण है कि उन्होंने वैयक्तिक अभिव्यजना-पद्धति को ही अपने अनुकूल पाया और उसी का अवलम्बन किया।

प्रसाद जी के भीतर पौराणिक प्रतीकों के अर्थ अधिक स्पष्ट थे। इसीलिये उन्होंने प्राचीन उपनिषद्, ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों में बिखरी हुई मनु की कथा को अपने सर्वोत्तम काव्य के लिये आधार बनाया। उन्हीं के शब्दों में मनु तथा श्रद्धा के योग से सृष्टि के विकास की कथा एक प्रकार की गाथा अर्थात् 'मिथ' है जिसका रहस्य इस प्रकार है—

'उसके (इतिहास के) मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूपग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनायें स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव, चिरतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।'*

श्रद्धा तथा मनु की कथा एक ऐसा ही 'चिरन्तन सत्य' के रूप में प्रतिष्ठित रूपक है जिसमें युग-युग के पुरुषों और पुरुषार्थों को अभिव्यक्ति दे सकने की पूरी क्षमता है। प्रसाद ने अपनी 'दैवी कल्पना' (कोलरिज ने पौराणिक कल्पना को 'डिवाइन इमैजिनेशन' की सज्ञा दी थी) के स्पर्श से इस 'मिथ' को नया आधुनिक रूप दे दिया है। उसमें अधिक से अधिक आधुनिकता लाने के लिये कवि ने बीच-बीच में आधुनिक 'मिथ' का भी प्रयोग किया है, जैसे 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्गों में। कहीं-कहीं पुराने और नये 'मिथ' का अद्‌भुत सम्मिश्रण भी मिलता है, जैसे—

कुंकुम का चूर्ण उड़ाते-से
मिलने को गले ललकते-से,
अतरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते-से।

दूसरे चरण में 'मधु उत्सव' और झलकते हुए 'विद्युत्कण' का सयोग सर्वथा अभिनव है। 'मिथ'-निर्माण की दृष्टि से कामायनी का अध्ययन अत्यन्त रोचक होगा। लज्जा और नारी की बातचीत तथा काम का अभिशाप आदि प्रसग भी कामायनी के 'मिथ'-प्रधान रूप को ही स्पष्ट करते हैं।

निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' में भी एक प्रचलित 'मिथ' का ही आधार ग्रहण किया गया है। राम-रावण का युद्ध भारतीय सस्कृति के इतिहास में

*—कामायनी, आमुख, पृ० ४।

बहुत बड़ा महत्त्व रखता है। निराला ने इस 'मिथ' को प्रतीकात्मक रूप देकर मानव-जीवन में जाग्रत रहने वाले सत् और असत्—देवी और आसुरी शक्तियों के 'अपराजेय समर' का बड़ा भव्य चित्र खींचा है। बीच में राम के एक सौ आठ इंदीवरों में से अन्तिम एक का सहसा अदृष्ट हो जाना निजधरी कल्पना का उत्कृष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार पंत आदि की कविताओं में भी लोककथाओं, परियों की कहानियों तथा निजंधरी कथाओं का उपयोग कहीं-कहीं मिल जाता है—पर अधिकतर उपमा, उत्प्रेक्षा या रूपक के रूप में।

'मिथ' काव्य का अखण्ड उपजीव्य है। प्रत्येक युग पुराने 'मिथ' का नवीन काल्पनिक परिष्कार करके और इस प्रकार उसे नया अर्थ तथा नई व्याख्या देकर अपने जीवन-संघर्षों तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों को कलात्मक रूप देता है। छायावादी काव्य ने 'कामायनी' की नवीन कल्पना करके अपने युग का व्यापक रूप से प्रतिनिधित्व किया है। 'राम की शक्तिपूजा' आदि कृतियों का भी इस प्रतिनिधित्व में अन्यतम योग है। इस दृष्टि से छायावादी काव्य की सर्वोच्च सफलता उस भूमि पर स्थित है जिसे 'मिथ'—या अधिक निश्चित अर्थ में पुराण अथवा पौराणिक कल्पना कहते हैं।

---

११

# कल्पना और ललित कल्पना[1]

हिन्दी में कल्पना तथा ललित कल्पना के सम्बन्धों पर प्रायः विचार नहीं हुआ है। इसीलिये इन दोनों के कार्यों को व्यापक रूप से कल्पना के भीतर ही समझ लिया जाता है। इसका कारण यह भी है कि अभी तक प्रयोग में 'ललित कल्पना' अथवा इसका बोधक अन्य कोई शब्द प्रचलित नहीं हो पाया है। जब 'फैन्सी' के लिये कोई सर्वमान्य पारिभाषिक शब्द ही नहीं बन पाया तो उस पर अलग से विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ 'कल्पना' और 'ललित कल्पना' के पारस्परिक सम्बन्ध और अंतर को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में कल्पना और ललित कल्पना का विवाद बहुत पुराना है। सर्व प्रथम जब प्लेटो ने कल्पना का विचार किया तब लैटिन का 'फैन्टेसिया' शब्द ही प्रचलन में आ सका था। उस समय यह शब्द एक तरह से सत्य अथवा यथार्थ का विलोम था। कदाचित् यही कारण था जिसके आधार पर प्लेटो ने कल्पना को असत्य पर आधारित बताया था। आगे चलकर ग्रीक का 'इमैजिनेशन' शब्द प्रवाह में आया और अपने मूल मे बिम्ब अथवा मूर्ति (इमेज) की ध्वनि रखने के कारण आलोचकों को अधिक ग्राह्य हुआ। कुछ समय तक दोनों शब्द समानान्तर प्रयोग में चलते रहे। फिर दोनों में अंतर स्पष्ट किया गया और 'इमैजिनेशन' शब्द पुनः सृष्टि-विधायिनी कल्पना का द्योतक बना तथा 'फैन्सी' आरोपविधायिनी अथवा सङ्गठनात्मक कल्पना का।

कोलरिज ने कल्पना और ललित कल्पना के सम्बन्धों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। कल्पना वह शक्ति है जो विचारों और भावों को सामजस्य पूर्ण रूप देती है और ललित कल्पना इसके ठीक विपरीत है, वह 'स्थिरता' और 'निश्चयता' के साथ क्रीड़ा करती है। वह स्मरण की एक ऐसी अवस्था

---

[1]—Imagination and Fancy

अंग्रेजी के 'फैन्सी' शब्द के लिये डा० नगेन्द्र ने 'ललित कल्पना' पद का प्रयोग किया है। यहाँ कोई अन्य उपयुक्त शब्द न पाकर उसी का प्रयोग किया जा रहा है।

है जो देश और काल के बन्धनों से मुक्त होती है। † इसका तात्पर्य यह हुआ कि ललित कल्पना में एक प्रकार की अतिशयता होती है जो उसे यथार्थ का प्रतिमान नहीं बनने देती। काव्य में जो विचित्र बिम्बों की क्रीड़ा अथवा चमत्कारी मूर्तिविधान की छटा कभी-कभी देखने में आती है वह ललित कल्पना का ही काम है। हान्स ने जब कल्पना की तुलना शृङ्गार के साधन जुटाने वाली दासी से की थी तब निश्चय ही उसके मस्तिष्क में ललित कल्पना अथवा 'फैन्सी' का स्वरूप था, कल्पना अथवा इमेजिनेशन का नहीं।

दोनों के अन्तर को एक अन्य आधार पर रखकर भी समझा जा सकता है। पुराने आलोचकों ने कल्पना में विवेक तथा तर्क को अनिवार्य माना था। उनके अनुसार विवेक शासक था, कल्पना शासित। पर आगे चलकर विवेक का महत्त्व उतना नहीं रह गया। फिर भी वर्ड्सवर्थ, शेली आदि ने किसी-न-किसी रूप में विवेक का अनुशासन आवश्यक माना। कल्पना जब इस विवेकतत्त्व से रहित होकर अनावृत रूप में सामने आती है तो वह ललित कल्पना कहलाती है। विवेक चेतना से आता है। चेतना बुद्धि और हृदय के पारस्परिक संघात से उत्पन्न होती है। चेतना का अंश कल्पना में भी होता है और ललित कल्पना में भी। कोलरिज ने इसी आधार पर दोनों का अन्तर स्पष्ट किया था—यदि ललित कल्पना और कल्पना, दोनों पर से चेतना और तर्क का नियंत्रण उठा लिया जाय तो पहली सन्निपात की दशा में पहुँच जायेगी और दूसरी सनक की दशा में।*

तात्पर्य यह कि कल्पना और ललित कल्पना में केवल स्वरूपगत भेद ही नहीं, गुणात्मक अंतर है। हमारे मन मे दोनों का विकास दो विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न रूपों में होता है। काव्य में दोनों का साथ-साथ व्यापार होता है और एक सीमा तक दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। कल्पना अधिक गंभीर संचयन में काम आती है और ललित कल्पना अपेक्षाकृत कम महत्त्व के कलात्मक गुम्फनों में। वर्ड्सवर्थ ने ललित कल्पना को एक ऐसे

---

† Fancy has no other counters to pay with but fixities and definites and is mode of memory emancipated from the order of space and time.

—Coleridge on Imagination p 72.

* You may conceive the difference in kind between Fancy and Imagination in the way that if the check of the senses and the reasons is drawn, the first would become delirium, the last mania.

—Coleridge on Imagination p. 44.

सादृश्यविधान का नाम दिया था जो गंभीरता के अभाव में सघटित होता है। † दोनों की निर्माण-विधियों में अन्तर है।

१—कल्पना में अर्थ के विभिन्न स्तर, वस्तु की ग्रहण-विधि तथा उसके मानसिक मूर्तिविधान के आधार, एक दूसरे को छूते और परिवर्द्धित-परिष्कृत करते चलते हैं।

२—ललित कल्पना में अर्थ का ग्रहण एकान्त रूप में होता है। फिर भी उसके प्रभाव में एक प्रकार की एकान्विति होती है। पर यदि वह एकान्विति किसी दूसरे श्रेष्ठतर रूप में होती तो उसका प्रभाव और ही होता।

कल्पना के लक्षणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसकी विशेषतायें हैं—एकता, अतस्सघटन और 'सगीतमय आनन्द बोध' अर्थात् उसमें बिम्बों का ग्रहण सश्लिष्ट रूप में होता है, फिर वह सकलित बिम्बों में आभ्यन्तर एकता की खोज करती है और सबसे अत में उन सबको एक अन्तर्लय में गूथ कर 'सगीतमय आनन्द बोध' की सृष्टि करती है। इसके ठीक विपरीत कोलरिज ने ललित कल्पना के लक्षण बताये हैं—

१—वह ऐसे बिम्बों का सचयन करती है जो विशृङ्खल और असमान होते हैं।

२—ललित कल्पना द्वारा सकलित बिम्ब 'स्थिर' और 'निश्चित' होते हैं, और कला मे भी उतने ही अलग-अलग दीख पड़ते हैं जितने प्रकृति में।

३—इन बिम्बों में जो कहीं-कहीं जोड़ दिखाई देता है वह कवि के मानसिक उद्वेग अथवा तात्कालिक प्रतिक्रिया के कारण, और उसे आकस्मिक ही मानना चाहिये।

इन लक्षणों से स्पष्ट है कि ललित कल्पना काव्य के बिखरे हुए उपादानों को एकत्र तो करती है, पर वह उन सबको मिलाकर कोई 'व्यक्तित्व' नहीं खड़ा कर पाती। 'व्यक्तित्व' से यहाँ तात्पर्य काव्य में कलात्मक 'रूप' अथवा 'फार्म' से है। काव्य का कलात्मक रूप (फार्म) न तो केवल बिम्ब में होता है, न प्रतीक में, न उपमा में, न उत्प्रेक्षा में और न शब्द-सगीत अथवा छन्द के प्रवाह में ही। वह इन सब की 'एकान्विति' या 'सुसघटन' में होता है। यह 'सुसघटन' कहीं बाहर से नहीं आता। यह स्वय वस्तु का गुण है, कल्पना इसी 'सुसघटन' की खोज करती है। कला में यह 'सुसघटन' 'लय' के रूप में व्यक्त होता है। ललित कल्पना की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह इस 'लय' की सृष्टि नहीं कर पाती। उदाहरण के लिये पन्त जी की 'छाया' शीर्षक कविता के दो चरण लीजिये—

---

† Fancy is an analogy coming short of seriousness.

तुम पथश्रान्ता द्रुपद सुता-सी,
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात
तुहिन-अश्रुओं से नित गिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन-रात !

ठीक इसके बाद—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी-छटी नव कविता-सी।

उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की यह शृङ्खला और दूर तक जाती है। यहाँ से वहाँ तक यदि कोई इन बिम्बों में एकता अथवा आभ्यन्तर 'लय' खोजने की चेष्टा करे तो उसे निराश होना पड़ेगा। पर अपने आप मे ये बिम्ब परस्पर असम्बद्ध रहते हुए भी पाठक को एक प्रकार का आनन्द प्रदान करते हैं। ऐसा क्यों होता है ? निस्सदेह ऐसा इसलिये होता है कि कवि के तात्कालिक मानसिक उद्वेग ने बिम्बों के बीच-बीच की दरार को भर-सा दिया है। पर यह भराव इतना पुष्ट और भास्वर नहीं है कि वह पूरी कविता को एक सम्पूर्ण 'व्यक्तित्व' प्रदान कर सके। प्रत्येक बिम्ब का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और वह किसी 'स्थिर' और 'निश्चित' अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह 'स्थिर' अर्थ कविता के सामूहिक अर्थ के प्रति समर्पित नहीं होता। होता यह है कि पूरी कविता का अर्थ और प्रभाव अलग-अलग बिम्बों मे ही बिखरा रह जाता है, उसका 'सुसंघटन' अथवा व्यक्तित्व अनेकशः छोटे-छोटे संघटनों और व्यक्तित्वों में विभक्त होकर 'संगीतमय आनन्दबोध' की सृष्टि नहीं कर पाता।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि पत जी की 'छाया' कविता के निर्माण मे जितना ललित कल्पना का योग है, उतना कल्पना का नहीं। पत जी की अधिकाश कविताओं में ललित कल्पना की प्रधानता है। 'नक्षत्र' 'बादल' 'चॉदनी' 'स्वप्न' 'वीचि-विलास' से उदाहरण लेकर इस तथ्य की परीक्षा की जा सकती है। दूसरी ओर पंत जी की ही 'परिवर्तन' कविता है जिसमें कल्पना का सर्वोत्तम उपयोग पाया जाता है। वहाँ भी चित्रों में फैलाव और विस्तार अधिक है। पर 'परिवर्तन' का एक भी बिम्ब स्वतन्त्र नहीं है। प्रत्येक बिम्ब बड़ी त्वरा के साथ आता है और किसी एक ही केन्द्रीय अनुभूति के विविध स्तरों को छूता हुआ परिवर्तन के विपुल, विराट्, अकल्पनीय बिम्ब

में लय हो जाता है। इस प्रकार कविता का एक विशिष्ट 'व्यक्तित्व' निर्मित होता है।

ऊपर कहा गया है कि कविता का 'रूप' या 'फार्म' कहीं बाहर से नहीं आता, वह स्वतः काव्यवस्तु के भीतर से ही उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मानव-जीवन स्वभाव से ही व्यवस्था की ओर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार उसकी रचना भी अनवरत किसी महत्तर 'लय' की ओर बढ़ती जाती है। जीवन में जो 'व्यवस्था' है, काव्य में वही 'लय है। एक रचनाकार के जीवन में यह 'व्यवस्था' अनुभूतियों के निरन्तर परिष्कार और परिमार्जन से आती है। है। काव्य में यह 'व्यवस्था' किस प्रकार प्रतिबिम्बित होती है! कवि मानवीय सुख-दुख का प्रत्यक्ष भोक्ता होता है। वह निरन्तर मानव-स्वभाव के भीतर छिपे हुए उस अनन्त व्यवस्था अथवा सुसघट को आत्मस्थ करने का प्रयत्न करता रहता है जो समूचे जीवन-प्रवाह को एक नियम में बाँधे हुए है। इस प्रयत्न में रचनाकार की कल्पना उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है। उसी के माध्यम से जीवन की अपेक्षाकृत स्थूल 'व्यवस्था' काव्य की अत्यन्त सूक्ष्म 'लय' बन जाती है। कवि जब ललित कल्पना के माध्यम से इस 'लय' तक पहुँचने का प्रयत्न करता है तो वह अधिक-से-अधिक जीवन की 'व्यवस्था' से टकरा कर रह जाता है, उस काव्यात्मक 'लय' तक नहीं पहुँच पाता।

कल्पना का सर्वोत्तम रूप लम्बी रचनाओं में देखा जाता है। काव्य का 'व्यक्तित्व' वहाँ अधिक पुष्ट और मांसल होता है। ललित कल्पना गीतात्मक कृतियों तक ही फैल कर रह जाती है। लम्बी दूरी तय करने में उसका श्रम प्रत्यक्ष होकर काव्य में झलकने लगता है।

इन सब बातों के होते हुए भी यह सत्य है कि कल्पना का काम बिना ललित कल्पना के नहीं चल सकता। बड़ी मानसिक शक्तियाँ तभी काम कर सकती हैं जब उनके कार्य को क्षिप्र गति से बढ़ाने वाली कोई छोटी मानसिक शक्ति भी उसके साथ-साथ क्रियाशील हो। कोलरिज का कहना है कि यद्यपि काव्य में कल्पना और ललित कल्पना का युगपत् अन्योन्याश्रित व्यापार होता है, फिर भी उनके कार्यों को एक ही कृति में स्पष्टतः अलग-अलग पहचाना जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जैसे एक चित्रकार किसी चित्र को बनाने में दो प्रकार की कूँचियों से काम लेता है—एक बारीक, दूसरी कुछ मोटी। चित्र की रेखाओं को स्फुट करने में दोनों का समान योग होता है। दोनों एक ही रंग और एक ही रूप को उभारने के लिये उठती-गिरती हैं। पर एक पारखी जब उस चित्र को देखता है तो उसके सामने दोनों कूँचियों के हलके रंग-स्पर्श स्पष्टतः अलग-अलग दीख पड़ते हैं। साहित्यिक रचना के शिल्प के

पारखी को भी कल्पना और ललित कल्पना के कार्यों को किसी रचना के भीतर अलग-अलग पहचानने में कठिनाई नहीं होती। कोलरिज ने कल्पना और ललित कल्पना के सम्बन्ध को एक रूपक के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

'औचित्य काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, ललित कल्पना उसकी साज-सज्जा है, गति उसकी जीवनी-शक्ति है, और कल्पना उसकी आत्मा है—जो सर्वत्र है और जो सब को सम्पूर्णता प्रदान करती है।'

इस रूपक से ललित कल्पना का स्वरूप स्पष्ट हो गया होगा। यदि इस रूपक की भाषा को ही और आगे बढ़ा दिया जाय तो कहा जा सकता है कि ललित कल्पना अंग है और कल्पना अंगी। दोनों में अंगांगि सम्बन्ध है। न तो ललित कल्पना के बिना कल्पना काव्य को अलंकृत कर सकती है, न कल्पना के बिना ललित कल्पना किसी कृति को सम्पूर्णता प्रदान कर सकती है।



# सहायक ग्रन्थ


हिन्दी—

१—कामायनी (आमुख) . . जयशंकर 'प्रसाद'
२—चिन्तामणि (प्रथम तथा द्वि० भाग) . आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३—छायावाद . नामवर सिंह
४—निराला डा० रामविलास शर्मा
५—पंत सम्पादिका, शची रानी गुर्टू
६—महादेवी सम्पादिका, शची रानी गुर्टू
७—रस-मीमांसा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
८—विचार और अनुभूति .. डा० नगेन्द्र
९—साहित्य-चिन्ता . डा० देवराज
१०—साहित्य का साथी . . डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
११—साहित्यालोचन डा० श्यामसुन्दर दास
१२—हिन्दी साहित्य का इतिहास . आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

अंग्रेजी—

1 A Brief General Psychology—Murphy
2 Biographia Literaria—Coleridge
3. Coleridge on Imagination—I A Riehards
4 Dictionary of world Literary Terms—Shipley
5 Figures of Speech or Figures of Thought A K. Coomarswamy
6. Illusion and Reality C. Caudwell
7. Introduction to the Study of Literature . Lionel Elvin
8. Meaning of Meaning . . I. A. Richards
9 Poetry Direct and Oblique E. M. W Tillyard
10 Poetry For You . C. Day Lewis
11. Poetic Image . ... C Day Lewis
12 Principles of Literary Criticism . . I A Richards
13 Poetic Imagery ... . Henry W. Wells, Ph. D

13. Romantic Imagination ... ... C. M. Bowra
14. Selected Essays ... ... T. S. Eliot
15. Similes of Kalidas (Introduction) ... ... K. Chellapan Pillai
16 Studies in a Dying Culture ... C. Caudwell
17. Symbolism—a Psychological Study ... ... Dr. Padma Agrawal
18. Symbols and Values—an initial study .. ... Edited by Lyman Bryson, Louis Finkelstein, R. M. MacIver, Richard Mckeon
19. The Creative Impulse ... ... H Caudwell
20. The Hero ... ... Lord Raglan
21. The Greek Myths ... ... Robert Graves
22. The Religion of An Artist .. Rabindra Nath Tagore
23. Theory of Literature ... .. Austin Warren and Rene Wellek
24. The Science of Fairy Tales ... E S Hartland.

# सहायक ग्रन्थ


हिन्दी—

१—कामायनी (ग्रामुख) .. जयशकर 'प्रसाद'
२—चिन्तामणि (प्रथम तथा द्वि० भाग) . आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३—छायावाद नामवर सिंह
४—निराला डा० रामविलास शर्मा
५—पत . सम्पादिका, शची रानी गुर्टू
६—महादेवी सम्पादिका, शची रानी गुर्टू
७—रस-मीमासा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
८—विचार और अनुभूति डा० नगेन्द्र
९—साहित्य-चिन्ता . डा० देवराज
१०—साहित्य का साथी डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
११—साहित्यालोचन डा० श्यामसुन्दर दास
१२—हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

अंग्रेजी—

1 A Brief General Psychology—Murphy
2 Biographia Literaria—Coleridge
3. Coleridge on Imagination—I A. Richards
4 Dictionary of world Literary Terms—Shipley
5 Figures of Speech or Figures of Thought ... . A K. Coomarswamy
6 Illusion and Reality . C. Caudwell
7 Introduction to the Study of Literature Lionel Elvin
8 Meaning of Meaning I. A Richards
9 Poetry Direct and Oblique E. M. W Tillyard
10 Poetry For You . C. Day Lewis
11 Poetic Image .. ... C. Day Lewis
12. Principles of Literary Criticism . I A Richards
13. Poetic Imagery ... .. Henry W. Wells, Ph. D

13. Romantic Imagination ... ... C. M. Bowra
14. Selected Essays ... ... T. S. Eliot
15. Similes of Kalidas (Introduction) ... ... K. Chellapan Pillai
16. Studies in a Dying Culture ... C. Caudwell
17. Symbolism—a Psychological Study ... ... Dr. Padma Agrawal
18. Symbols and Values—an initial study ... ... Edited by Lyman Bryson, Louis Finkelstein, R. M. MacIver, Richard Mckeon
19. The Creative Impulse ... ... H. Caudwell
20. The Hero ... ... Lord Raglan
21. The Greek Myths ... .. Robert Graves
22. The Religion of An Artist ... Rabindra Nath Tagore
23. Theory of Literature ... ... Austin Warren and Rene Wellek
24. The Science of Fairy Tales .. E. S Hartland.